बौद्धभारतीग्रन्थमाला - ३२
Baudha Bharati Series - 32

आर्यमैत्रेयप्रणीतं

मध्यान्तविभागशास्त्रम्

[आर्यवसुबन्धुकृतभाष्यसहितम्]

(आर्यस्थिरमतिटीकांशोपेतम्)

(हिन्दीरूपान्तरसंवलितं च)



प्रधानसम्पादकः
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-३२

Bauddha Bharati series-32

आर्यमैत्रेयविरचितं

मध्यान्तविभागशास्त्रम्

[आर्यवसुबन्धुरचितभाष्यसहितम्]

(आर्यस्थिरमतिटीकांशोपेतम्)

[हिन्दीरूपान्तरसंवलितं च]

प्रधानसम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Bauddha Bharati Series–32

MADHYĀNTA VIBHĀGA ŚĀSTRA

of

ĀRYA MAITREYA

with

BHASHYA

of

ARYA VASUBANDHU

and

Tika by Arya Sthiramati

Editor & Hindi Translator

SWAMI DWARIKADAS SHASTRI

Bauddha Bharati
VARANASI
1994

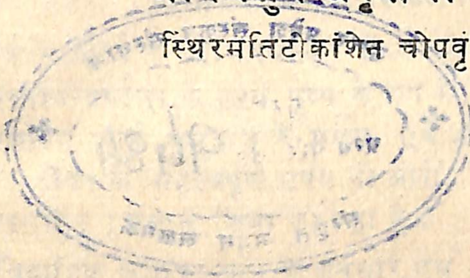
बौद्धभारतीग्रन्थमाला-३२

आर्यमैत्रेयकृतं

मध्यान्तविभागशास्त्रम्

आर्यवसुबन्धुकृतभाष्येण

स्थिरमतिटीकाशेन चोपबृंहितम्



सम्पादको हिन्दीरूपान्तरकारश्च

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री



वाराणसी

२०५१ वैक्रमाब्दः]   १९९४ ई०   [२५३८ बु०

प्रकाशक :
© बौद्ध भारती,
पो० बा० १०४९
वाराणसी-१ (उ० प्र०)
पिन : २२१ ००१

Published by :
© BAUDDHA BHARATI
Post. Box : 1049
Varanasi-1 (U. P.)
Pin : 221 001

सम्पादनसहायकौ

श्रीधर्मकीर्त्तिशास्त्री
श्रीचन्द्रकीर्त्तिशास्त्री च

प्रथम संस्करण
सन् १९९४ ई०

First Edition
1994 E.

मूल्य : १००) रु०
(एक सौ रुपया)

Price Rs. 100/-
(Rupees One Hundred)

मुद्रक :
साधना प्रेस
३, काटन मिल कालोनी,
वाराणसी-२२१ ००२

Printed at
SADHANA PRESS
3, cotton mill colony,
VARANASI-221 002

प्रकाशकीयम्

संस्कृत्य शास्त्रमिदमस्ति यदेव पुण्यं
पुण्योदयाय महते जगतस्तदस्तु।
ज्ञानोदयाय च यतोऽभ्युदयं महान्तं
बोधित्रयं च नचिराज्जगदश्नुवीत।

बौद्ध साहित्य के अभिवर्धनहेतु किये गये अपने सङ्कल्प के अनुसार, बौद्धभारतीग्रन्थमाला के ३२वें पुष्प के रूप में यह आर्य मैत्रेयकृत **मध्यान्तविभागशास्त्र** आर्य वसुबन्धु के भाष्य, एवं आर्य स्थिरमति की 'आगमानुसारिणी' टीका के महत्त्वपूर्ण उपयोगी अंशों के साथ, (अविकल हिन्दी रूपान्तरसहित) प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऐतिहासिक श्रुतिपरम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ के रचयिता हैं—**आर्य मैत्रेय** (तृतीय शताब्दी), प्रवक्ता हैं--आर्य असङ्ग (चतुर्थ शताब्दी), भाष्यकार हैं--आर्य वसुबन्धु (चतुर्थ शताब्दी), और सर्वोत्तम टीकाकार हैं—आर्य स्थिरमति (पञ्चम शताब्दी)।

प्रायः दो हजार वर्ष के सुदीर्घ कालिक झंझावातों से टक्कर लेता हुआ यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अपने मूल रूप (संस्कृत) से जब-तब लुप्त होता रहा है, परन्तु उन उन विद्वानों के स्तुत्य प्रयासों से तब-तब इसे जीवनदान भी मिलता गया है। इस पुण्यकार्य में समय-समय पर सहायक भिक्षु परमार्थ, ह्वेन-साङ्ग, जी-एम् नागियो, एस. यामागुची, पं० हेमराज शर्मा, विधुशेखर भट्टाचार्य, जी. टुच्ची, सिल्वन लेवी, हरप्रसादशास्त्री, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, वी. वी. गोखले, चन्द्रधरशर्मा, आर. सी० पाण्डेय आदि सभी विद्वान् हमारे अभ्यर्हणीय हैं। सचाई यह है कि इन्हीं विद्वानों द्वारा समय-समय पर किये गये अमूल्य श्रम का आलम्बन लेकर आज हम इस ग्रन्थ को इस तरह, सुव्यवस्थित रूप में, प्रामाणिकतया प्रस्तुत कर पा रहे हैं।

सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का तिब्बती विद्वानों ने तिब्बती भाषा में अक्षरशः अनुवाद किया, फिर समय आने पर तिब्बती अनुवाद को प्रमाण मानकर चीनदेशवासी विद्वानों ने इसका चीनी भाषा में और जापानी विद्वानों ने जापानी भाषा में भी अनुवाद किया। इन अनुवादों को उपजीव्य मानकर १९वीं तथा २०वीं शताब्दी के कतिपय विद्वानों ने इस ग्रन्थ को इंग्लिश तथा फ्रेंच भाषा में भी अनूदित किया। इस लम्बी अनुवादपरम्परा से

हमारी यह हानि अवश्य हुई कि हम इस ग्रन्थ के मूल रूप, जो कि संस्कृत में था, से बहुत दूर पहुँच गये थे।

परन्तु यह हमारा सौभाग्य या पूर्व पुण्यसञ्चय ही रहा कि सन् १९३५ में अपने तिब्बत-प्रवास काल में माननीय महापण्डित श्रीराहुल सांकृत्यायन ने किसी बौद्धमठ से इस ग्रन्थ की मूलसंस्कृत प्रतिलिपि प्राप्त कर ली और वे उस की चित्रप्रतिकृति (फोटो कॉपी) साथ ले आये। इसी के आधार पर पटना के काशीप्रसाद जायसवाल इन्स्टीटयूट ने १९६७ में यह ग्रन्थ (मूल संस्कृत कारिका) आर्यवसुबन्धुरचित भाष्य के साथ प्रकाशित किया। आर्यस्थिरमति की विस्तृत व्याख्या (आगमानुसारिणी) भी दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्वानों के श्रम से दिल्ली के प्रमुख प्रकाशक द्वारा १९७१ में प्रकाशित हो गयी। उधर जबलपुर विश्वविद्यालय से सन् १९६३ में प्रो० यामागूचीकृत संस्कृतच्छाया के सहारे इस टीका के आवश्यक अंश के साथ मूल ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इससे कुछ समय तक छात्रों को बहुत सहयोग मिला।

यह ग्रन्थ बौद्धविज्ञानवाद के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी है। अतः प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में यह परीक्षा-पाठ्यपुस्तक के रूप में भी निर्धारित है। परन्तु वर्तमान में इस ग्रन्थ का कोई भी संस्करण बाजार में सामान्यतः उपलब्ध नहीं है। अतः इस अभाव की पूर्ति हेतु हमने ग्रन्थ का यह संस्करण प्रस्तुत किया।

इसमें हमने १. मध्यान्तविभागशास्त्र की मूल कारिकाएँ, २. वसुबन्धुकृत भाष्य, ३. स्थिरमतिकृत टीका के आवश्यक अंश (जबलपुर विश्वविद्यालय संस्करण से उद्धृत), एवं ४. भाष्य तथा टीका के आधार पर ग्रन्थ का अक्षरशः प्रामाणिक हिन्दी रूपान्तर सम्मिलित किया है। (हमें खेद है कि, अत्यधिक विस्तृत होने के कारण, स्थिरमति की टीका अविकल रूप से इस ग्रन्थ में संयुक्त नहीं कर पाये)। साथ में, ग्रन्थ के प्रारम्भ में, जिज्ञासुओं के हितार्थ ग्रन्थ की विषयवस्तु एवं विज्ञानवाद की विस्तृत समीक्षा (हिन्दी में) भी सम्पृक्त कर दी है।

यों, यह ग्रन्थ मेधावी छात्र एवं विद्वानों के लिये समानतया उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

वाराणसी·
धर्मचक्रप्रवर्तनदिवस,
२५३८ (बु०)

अध्यक्ष,
बौद्धभारतीपरिषद्

ग्रन्थ की विषयवस्तु

यह 'मध्यान्तविभागशास्त्र' ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है।

१. **लक्षणपरिच्छेद** नामक प्रथम परिच्छेद में यथार्थता की प्रकृति एवं विशेषताओं को परिभाषित किया गया है। इसमें विज्ञानवाद के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों—१. अभूतपरिकल्प एवं २. शून्यता की विस्तृत व्याख्या है।

२. **आवरणपरिच्छेद** नामक दूसरा परिच्छेद उन विभिन्न आवरणों का वर्णन करता है जो आध्यात्मिक जीवन के मार्ग में बाधक है।

३. **तत्त्वपरिच्छेद** नामक तृतीय परिच्छेद में यथार्थता (सत्ता) एवं सत्य के विविध स्तरों का वर्णन है।

४. **प्रतिपक्षभावनावस्थाफलपरिच्छेद** नामक चतुर्थ परिच्छेद भावना एवं आध्यात्मिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं सहित, इन अवस्थाओं में प्राप्त फलों का भी विस्तृत वर्णन करता है।

५. **यानानुत्तर्यपरिच्छेद** नामक पञ्चम एवं अन्तिम परिच्छेद, लक्ष्य-प्राप्ति कराने में महायान की अनुत्तर श्रेष्ठता प्रदर्शित करता है।

यह शास्त्र इन सात विषयों की शिक्षा देता है—१. लक्षण, २. आवृत्ति, ३. तत्त्व, ४. प्रतिपक्षभावना, ५. अवस्था, ६. फल प्राप्ति एव ७. यानानुत्तर्य।

प्रथम परिच्छेद में, जिसका प्रतिपाद्य विषय 'लक्षण' है, तेईस (२३) कारिकाएँ हैं। लक्षण के दो प्रकार कहे गये हैं—१. संक्लेशलक्षण, जो कि विज्ञान के मलिन होने के फलस्वरूप यह दुःखपूर्ण आनुभविक संसार है, एवं २. व्यवदानलक्षण, जिसका तात्पर्य है भावना द्वारा चित्तशुद्धि के माध्यम से शुभस्वरूप सत् का साक्षात्कार। प्रथम अभूतपरिकल्प एवं द्वितीय शून्यता है।

संक्लेशलक्षण को पुनः नौ भागों में विभक्त किया गया है—१. सल्लक्षण, २. असल्लक्षण, ३. स्वलक्षण, ४. संग्रहलक्षण, ५. उपायलक्षण, ६. प्रभेद-लक्षण, ७. पर्यायलक्षण, ८. प्रवृत्तिलक्षण एवं ९. संक्लेशलक्षण।

व्यवदानलक्षण के चार उपविभाग हैं, जो कि प्रत्यय, प्रभेद एवं साधना के ज्ञान के रूप में शून्यता के लक्षण हैं।

द्वितीय परिच्छेद का विषय है--'आवरण', इसमें सत्रह कारिकायें हैं। यह आवरण (आच्छादन=ढकना) अनेकविध है। आर्यश्रावक, प्रत्येक-बुद्ध एवं बोधिसत्त्व इसके प्रभावक्षेत्र में आते हैं। ये चार आर्यसत्यों, बोधिपाक्षिक धर्मों, पारमिताओं एवं भूमियों के साक्षात्कार में बाधक हैं। अन्ततः सभी आवरण मोटे तौर से दो भागों में रखे जा सकते हैं--१. क्लेशावरण, जिसके अन्तर्गत विभिन्न क्लेश एवं उपक्लेश आते हैं, एवं २. ज्ञेयावरण जो सत् को आवृत्त करके उसके स्थान पर असत् को दिखलाता है।

तृतीय परिच्छेद में, जिसका विषय 'तत्त्व' है, तेईस कारिकायें हैं। वस्तुतः मूलतत्त्व ही एकमात्र तत्त्व या सत् है एवं शेष दोनों को स्वभाव या तत्त्वमात्र आदरार्थ ही कहा गया है। इस परिच्छेद में इन तीन स्वभावों की विस्तृत एवं सर्वपक्षीय व्याख्या की गयी है। विस्तार की दृष्टि से यह तत्त्व दस भागों में विभक्त है जैसे--१. मूलतत्त्व, २. लक्षणतत्त्व, ३. अविपर्यासतत्त्व, ४. फल-हेतुतत्त्व, ५. औदारिक-सूक्ष्मतत्त्व, ७. विशुद्धि-गोचरतत्त्व, ८. संग्रहतत्त्व, ९. प्रभेदतत्त्व एवं १०. कौशलतत्त्व।

प्रथम (मूलतत्त्व) तीनों स्वभावों की वास्तविक प्रकृति का स्वानुभव है। द्वितीय (लक्षणतत्त्व) धर्मनैरात्म्य एवं पुद्गलनैरात्म्य का सत्य ज्ञान है। तृतीय (अविपर्यास) अनित्य, दुःख एवं अनात्म के वास्तविक अर्थ का ज्ञान है। 'अनित्य' शब्द का प्रयोग परिकल्पित के सन्दर्भ में 'असत्' के अर्थ में किया गया है, परतन्त्र के लिये 'उत्पाद व्यय' (परिवर्तन) के अर्थ में; एवं परिनिष्पन्न के लिये 'आगन्तुक मल' के अर्थ में। 'दुःख' शब्द का प्रयोग इन तीन स्वभावों के सन्दर्भ में क्रमशः उपादान-दुःख, लक्षण-दुःख एवं सम्बन्ध-दुःख के अर्थ में किया गया है। एवं इन तीनों के सन्दर्भ में 'नैरात्म्य' शब्द का अर्थ क्रमशः अलक्षण-नैरात्म्य, विलक्षण-नैरात्म्य एवं स्वलक्षण-नैरात्म्य है। चौथे प्रकार का तत्त्व हमें बतलाता है कि परिकल्पित का निराकरण केवल उसके परिज्ञान से ही सम्भव है। परतन्त्र के प्रहातव्य हैं मल, एवं परिनिष्पन्न साक्षात्कार का विषय है। पाँचवाँ तत्त्व संवृति एवं परमार्थ की चर्चा करता है; छठा लोकप्रसिद्ध एवं युक्तिप्रसिद्ध की; सातवाँ विशुद्धि की, आठवाँ शुद्ध-लौकिक एवं लोकोत्तर ज्ञान की, नवाँ प्रभेद की एवं दसवाँ स्कन्ध, धातु, आयतन, प्रतीत्यसमुत्पाद एवं आर्य सत्य आदि की चर्चा करता है।

अट्ठारह कारिकाओं वाले **चतुर्थ परिच्छेद** का विषय है **प्रतिपक्ष-भावना**, जिसके अन्तर्गत चार स्मृत्युपस्थान, चार प्रकार के वीर्य, चार ऋद्धिपाद,

पाँच आध्यात्मिक इन्द्रियाँ, पाँच बल, सात बोध्यङ्ग एवं आठ मार्गाङ्ग आते हैं, उनकी अवस्थाओं एवं फल-प्राप्ति के साथ। चार स्मृत्युपस्थानों का नामकरण काय, वेदना, चित्त एवं धर्म के आधार पर किया गया है। वीर्य के चार प्रकार हैं: अनुत्पन्न अकुशलधर्मों को उत्पन्न न होने देना, उत्पन्न अकुशल धर्मों का प्रहाण, अनुत्पन्न कुशल धर्मों को उत्पन्न करना एवं उत्पन्न कुशल धर्मों को बनाये रखना। चार ऋद्धिपाद क्रमशः छन्द, वीर्य, स्मृति, चित्त एवं मीमांसा नामक समाधियाँ हैं। पाँच आध्यात्मिक इन्द्रियाँ हैं--श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा। ये ही पाँच जब बहुत उच्चस्तर पर पहुँच जाती हैं, तब 'बल' कहे जाते हैं। सात बोध्यङ्ग हैं--स्मृति, धर्म-प्रविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि एवं उपेक्षा। आठ मार्गाङ्ग हैं--सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सङ्कल्प, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति एवं समाधि। अवस्थाएँ मुख्यत: तीन हैं—श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, बोधिसत्व एवं बुद्ध, जिन्हें क्रमशः अशुद्ध, अशुद्ध-शुद्ध एवं शुद्ध कहा गया है। फल मुख्यत: पाँच हैं--भाजनत्व, बल, रुचि, वृद्धि एवं विशुद्धि।

पञ्चम परिच्छेद इकतीस कारिकाओं में है, एवं उसका विषय है—प्रतिपत्ति, आलम्बन एवं समुदागम के रूप में महायान की त्रिपक्षीय उत्कृष्टता (महत्ता) का प्रतिपादन। इसका विस्तार ग्रन्थ से ही यथा-प्रसङ्ग समझ लेना चाहिये।

विज्ञानवादपरीक्षा

[विज्ञानवाद आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रायः उपेक्षित रहा है। इसके दर्शन पर बहुत कम लिखा गया है, या फिर जो लिखा भी गया है वह प्रमाद (भूल) एवं भ्रान्ति (गलतफहमी) से मुक्त नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत ग्रन्थ को भली भाँति समझाने में सरलता लाने की दृष्टि से यहाँ विज्ञानवाद का एक संक्षिप्त परिचय, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ, प्रस्तुत किया जा रहा है।]

विज्ञानवाद का उद्भव

बौद्धधर्म भारतवर्ष में लगभग अठारह शताब्दियों तक फलता-फूलता रहा एवं अनेक सम्प्रदायों-उपसम्प्रदायों, मत-मतान्तरों में विभक्त हुआ। यथार्थवाद, अनुभव-वाद, व्यवहारवाद, व्यक्तिनिष्ठप्रत्ययवाद एवं निरपेक्षवाद स्वयं बौद्धधर्म में ही पाये जाते हैं। बुस्तोन एवं तारानाथ जैसे इतिहासकार तीन धर्मचक्रप्रवर्तनों का उल्लेख करते हैं, जिसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि बौद्धधर्म के इतिहासक्रम में तीन प्रमुख परिवर्तन आये हैं। वे हैं–१. हीनयानी सम्प्रदायों के बहुत्ववादी यथार्थवाद का प्राचीन स्तर, २. महायान के शून्यवाद या माध्यमिक सम्प्रदाय के निरपेक्षवाद का मध्यवर्ती स्तर, एवं ३. महायान के विज्ञानवाद का अन्तिम स्तर, जिसके अन्तर्गत मैत्रेय असङ्ग एवं वसुबन्धु के विज्ञानवाद या योगाचार सम्प्रदाय का निरपेक्षविज्ञानवाद, एवं दिङ्नाग, धर्मकीर्ति एवं शान्तरक्षित के उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विज्ञानवाद या सौत्रान्तक-योगाचार सम्प्रदाय का व्यक्तिनिष्ठ विज्ञानवाद आते हैं।

विज्ञानवाद के सम्प्रदाय

प्रायः विज्ञानवाद को एक ही सम्प्रदाय समझने की भूल की जाती है, एवं इसके मैत्रेय, असङ्ग, वसुबन्धु एवं स्थिरमति द्वारा प्रस्तुत पूर्ववर्ती मूल रूप में एवं इसके परवर्ती विकास में, जो वस्तुतः दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित प्रभृति की बुद्धि-प्रतिभा का फल है, अन्तर नहीं किया जाता। इस असमञ्जस से जो भ्रान्त धारणायें फैली हैं वे दुःखद हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति एवं शान्तरक्षित का परवर्ती विज्ञानवाद स्वतन्त्रविज्ञानवाद कहा जाना चाहिये, क्योंकि पूर्ववर्ती विज्ञानवाद के आधारभूत निरपेक्षवाद को छोड़कर, इसका स्वतन्त्र रूप में विकास हुआ। इसे 'सौत्रान्तिक-योगाचार' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सौत्रान्तिक का आलोचनात्मक यथार्थवाद एवं योगाचार का विज्ञानवाद भी सम्पृक्त हैं। इस सम्प्रदाय को 'बौद्धन्याय-सम्प्रदाय' भी कहते हैं। इसका रूपान्तरण बहुत्ववादी एवं व्यक्तिनिष्ठ विज्ञानवाद तथा सर्वाहंवाद में हो गया। यही वह सम्प्रदाय है जिसकी आलोचना विज्ञानवाद के नाम से चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव एवं प्रज्ञाकरमति जैसे परवर्ती माध्यमिकों एवं आद्य शङ्कराचार्य ने की थी।

महायान के दो सम्प्रदाय

महायान का उद्भव हीनयान के अभिधर्मदर्शन के अन्तर्विरोधों को दूर करने एवं बुद्ध के उपदेशों की, निरपेक्षवाद के प्रकाश में, सही ढंग से व्याख्या करने के उद्देश्य से हुआ था। महायान के दो महान् सम्प्रदायों—माध्यमिक एवं विज्ञानवाद के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास सम्भवतः साथ-ही-साथ हुआ था, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से एक पूर्णविकसित सम्प्रदाय के रूप में माध्यमिक पहले अस्तित्व में आया। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय की, जो कि हीनयान के सभी सम्प्रदायों में सर्वाधिक आलोचनापरक है एवं दार्शनिक दृष्टि से सर्वाधिक उच्चस्तरीय है, हीनयान से महायान की ओर सङ्क्रमण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। एक ओर तो यह माध्यमिक के निरपेक्षवाद के उद्भव की ओर ले जाता है, तो दूसरी ओर विज्ञानवाद एवं स्वतन्त्रविज्ञानवाद के विज्ञानवाद (आइडियलिज्म) की ओर।

सौत्रान्तिकों का हस्तक्षेप

सौत्रान्तिकों ने सर्वास्तिवाद के सरल, अकृत्रिम यथार्थवाद को अभिधर्म-दर्शन की तार्किक सम्भावनाओं का उद्‌घाटन करने के माध्यम से आलोचनात्मक यथार्थवाद में बदल दिया। सन्देहास्पद स्थिति वाले अनेक धर्मों को हटा दिया गया एवं उनकी सख्या पचहत्तर से घटकर तेतालीस तक आ पहुँची। विकल्प के सिद्धान्त का विकास हुआ एवं तर्कशास्त्र तथा ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में कई बहुत मौलिक योगदान किये गये, जिन्हें बाद में स्वतन्त्रविज्ञानवाद ने ग्रहण एवं विकसित किया। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में ज्ञान के एक निश्चित विश्लेषण को आकार प्रदान किया गया एवं उसका भलीभाँति विकास भी किया गया। आनुभविक ज्ञान की संरचना में दो घटक माने गये—**१. शुद्ध संवेदन** जो स्वलक्षण से आता है, एवं जो कि अद्वितीय क्षणिक है एवं असम्बद्ध धर्म है; तथा **२. सम्बन्ध** जो कि इस पर सहज बुद्धिविकल्पों द्वारा या कल्पना अथवा सङ्कल्प द्वारा आरोपित किये जाते हैं एवं जो अविद्या का कार्य है। स्वलक्षण का प्रतिमान (इन्टयूशन) प्रत्यय है, एवं सामान्यलक्षण जो कि एक विकल्प है, ज्ञान या अनुमान है। सभी ज्ञान इन दो वर्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। एवं ज्ञान का कोई अन्य साधन (प्रमाण) नहीं है। सत असम्बद्ध है; क्योंकि यह सभी बुद्धि विकल्पों एवं शब्दों से परे हैं। योगी शुद्ध प्रतिमान द्वारा इसका साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं।

सौत्रान्तिकद्वारा विज्ञानवाद की आलोचना

किन्तु इन सुधारों के होने पर भी, सौत्रान्तिक अनालोचनात्मक रूप से अभिधर्म-दर्शन के यथार्थवादी बहुत्ववाद से जुड़े रहे। सर्वास्तिवाद के समान सौत्रान्तिक भी धर्मों की वस्तुगत सत्ता में तथा उनकी क्षणिकता एवं उनके प्रतीत्यसमुत्पन्न होने

में विश्वास करते रहे। प्रतीत्यसमुत्पाद को वास्तविक कार्य-कारण सम्बन्ध माना गया। एकत्व, सार्वभौमिकता, भौतिकता एवं स्थायित्व के विकल्पों को वैचारिक माना गया; किन्तु भेद, वैयक्तिकता, आकारीय परिवर्तन एवं क्षणिकता को (सत्) माना गया। नाम-स्कन्ध के आधार पर बनाये गये कर्त्ता, आत्मा, अहं या पुद्गल को असत् वैचारिक संरचना माना गया, किन्तु पृथक-पृथक् एवं क्षणिक मानसिक अवस्थाओं को सत् माना गया। नैरात्म्यवाद एकपक्षीय ही रह गया; क्योंकि इसे पुद्गल पर तो स्वीकार किया गया, किन्तु धर्म पर नहीं। इसी तरह प्रतीति एवं सत् के बीच अन्तर तो किया गया, किन्तु उसे आधे-अधूरे रूप में ही स्वीकार किया गया। पुद्गल को प्रज्ञप्तिसत् माना गया, किन्तु धर्मों को वस्तुसत्। यों, सौत्रान्तिक अर्ध-आलोचनात्मक ही बने रहे।

माध्यमिककृत सौत्रान्तिक-खण्डन

आलोचना के इस तार्किक आन्दोलन को माध्यमिक ने पूरा किया। आलोचना की प्रक्रिया, एक बार आरम्भ हो जाने पर बीच में नहीं रोकी जा सकती। सभी विचार सापेक्ष हैं एवं यदि एक भागविशेष को हटा दिया गया, तो पूरी-की पूरी संरचना ही बिखर जायेगी। माध्यमिक का कहना है कि यदि एकत्व, सार्वभौमता, भौतिकता एवं स्थायित्व के एकीकरण करने वाले विकल्प असत् वैचारिक-संरचनायें हैं, तो भेद, वैयक्तिकता (विशिष्टता), आकारीय परिवर्तन एवं क्षणिकता के विशेष अवस्था के माने जाने वाले विकल्प भी वैसे ही असत् वैचारिक संरचनायें हैं। यदि पुद्गल प्रतीतिमात्र है, तो धर्म भी वही है। प्रतीत्यसमुत्पाद सत् नहीं है; वह सापेक्ष है अतएव वस्तुतः असत् है। संवृति एवं परमार्थ के बीच के भेद को पूर्णतः बनाये रखा गया है। सभी विचार सापेक्ष हैं एवं आत्म-विरोध से ग्रस्त हैं। यदि एकरूपता का द्रव्याश्रित दृष्टिकोण रूढ़िवाद एवं शाश्वतवाद की ओर ले जाता है, तो भेद का आकाराश्रित दृष्टिकोण भी वैसे ही रूढ़िवादी अनुभववाद एवं उच्छेदवाद की ओर ले जाता है। सत् अद्वैतरूपनिरपेक्ष है, जिसका साक्षात्कार विचार द्वारा नहीं, अपितु साक्षात् आध्यात्मिक अनुभव द्वारा किया जा सकता है।

विज्ञानवाद पर सौत्रान्तिकों का प्रभाव

विज्ञानवाद सम्प्रदाय पर सौत्रान्तिक एवं माध्यमिक का प्रभाव पड़ा है। सौत्रान्तिक की आलोचना द्वारा इसने अपने विज्ञानवाद का विकास किया है, जबकि इसका निरपेक्षवाद माध्यमिक की देन है। सौत्रान्तिक-तर्कशास्त्र की अपूर्णताओं को दूर करने के प्रयास के स्वाभाविक परिणाम के रूप में विज्ञानवाद का विकास हुआ। यदि हमारा समस्त आनुभविक ज्ञान सहज बुद्धिविकल्पों की अपेक्षा करता है, तब वह तथाकथित वस्तुगत सत्ता भी वैचारिक संरचना की उपज हो सकती है। अनुभवातीत

विषयित्व के कृत्य को तर्क की दृष्टि से हमारे समस्त आनुभविक ज्ञान तक विस्तृत किया जा सकता है। सौत्रान्तिक द्वारा समर्थित बाह्यानुमेयवाद भी उसी निष्कर्ष की ओर ले जाता है। यदि हम केवल सविकल्प को ही जानते हैं तो किसी अज्ञेय स्वलक्षण में विश्वास करते रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यह माना जाय कि यह 'वस्तु' या 'द्रव्य' वह कारण है जो संवेदन को उत्पन्न करता है तो इसकी अपेक्षा यह अधिक तर्कसंगत होगा कि इस कारणता को स्वयं विचार के ही आन्तरिक क्रियाक्षेत्र के अन्तर्गत खोजा जाय, न कि इस अतर्कसंगत एवं कल्पित बाह्य वस्तु में। पाश्चात्यदर्शन में भी लॉक का 'अज्ञेय द्रव्य' बर्कले द्वारा 'एक मूर्खतापूर्ण विचाररहित कुछ' कहकर ठुकरा दिया गया, एवं काण्ट का "वस्तु जो वह अपने आप में है" ('थिंग-इन-इटसेल्फ'), संवेदन एवं विचार के बीच इसके द्वैत के साथ, फिख्टे एवं हेगल द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। मैत्रेय, असङ्ग, वसुबन्धु एवं स्थिरमति का मूल विज्ञानवाद माध्यमिक निरपेक्षवाद के प्रति गहरी आस्था रखता है। वह स्वय को मध्यमा प्रतिपद् कहता है, एवं स्पष्टतः अपने निरपेक्ष का तादात्म्य शून्यता से करता है। विज्ञानवाद की उत्पत्ति शून्यवाद की कमियों को पूरा करने के लिये हुई, न कि उसका विरोध करने के लिये। माध्यमिक की निषेधात्मक तर्कप्रणाली ने अनेकों दार्शनिकों को भयभीत कर दिया एवं उन्हें यह एक अनौचित्यपूर्ण निषेधवाद के रूप में प्रतीत हुआ, एवं तत्त्वमीमांसा की इसकी अस्वीकृति दर्शन की स्वाभाविक चिन्तनपरक प्रवृत्ति के विरुद्ध थी। अपने तर्कों के साथ सगति रखते हुए माध्यमिक ने किसी रचनात्मक पद्धति के निर्माण से अपने को बचाया जिसे कि उसने यथार्थ को गलत ढंग से प्रस्तुत करना माना। माध्यमिक स्वय बुद्ध के समान ही, सत् की ओर अपरोक्षरूप से संकेत करने में ही सन्तुष्ट रहे, क्योंकि अनिर्वचनीय का निर्वचन करने का यही एकमात्र उपाय है। उसके लिये निरपेक्ष सत् पारगामी भी है एवं अन्तर्यामी भी, किन्तु इन्द्रियगम्य जगत् एवं निरपेक्ष के बीच क्या सम्बन्ध है?—इसे विस्तारपूर्वक दिखाने के उद्देश्य से किसी तत्त्वमीमांसा की रचना में नहीं उलझा। बुद्ध के समान, उसका उद्देश्य विचार एव सर्वविध तत्त्वमीमांसा की व्यर्थता को दिखलाना था एवं साधक को आध्यात्मिक साधना (भावना) की ओर उन्मुख करना था, केवल जिसके द्वारा निरपेक्ष सत् का साक्षात्कार किया जा सकता है।

यह दृष्टिकोण यद्यपि पूर्णतः तर्कसंगत था, किन्तु वह दार्शनिकों को ही सन्तुष्ट नहीं कर सका, सामान्यजन को तो किसी भी तरह नहीं। विज्ञानवाद शून्यवाद को पारमार्थिक दृष्टि से स्वीकार करता है। उसके अनुसार भी निरपेक्ष सत् पारगामी एवं अन्तर्यामी दोनों है। वह आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता भी स्वीकार करता है।

विज्ञानवाद और योगाचार

विज्ञानवाद को योगाचार के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि सत् के

साक्षात्कार के लिये यह आध्यात्मिक साधना अर्थात् योग की आवश्यकता पर बल देता है। किन्तु शून्यता के विषय में भ्रान्त धारणाओं के निवारण के लिये, विज्ञानवाद तत्त्वमीमांसा की रचना करने की आवश्यकता समझता है। स्थूलदृष्टिवालों ने शून्यवाद को दृढ़ निषेधवाद समझने की भूल की। एवं शून्यवादियों को ऐसे आक्रमणों के विरुद्ध अपनी सुरक्षा करनी पड़ती थी। विज्ञानवाद ने इन भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयास किया; क्योंकि विचार एवं भाषा ही ऐसे एकमात्र साधन हैं, जिनका अच्छी तरह उपयोग किया जाना चाहिये, चाहे आत्यन्तिक रूप से वे कितने ही त्रुटिपूर्ण क्यों न हों! सभी इन्द्रियानुभवों एवं सभी तत्त्वमीमांसाओं की पूर्ण अस्वीकृति एक असुरक्षित अति थी। विज्ञानवाद का उद्भव माध्यमिक निरपेक्षवाद एवं रचनात्मक तत्त्वमीमांसक विचारप्रक्रिया के बीच मेल कराने के लिये हुआ था।

विज्ञानवाद पर सौत्रान्तिक का प्रभाव दौर्भाग्यपूर्ण रहा। पूर्ववर्ती विज्ञानवाद का माध्यमिक निरपेक्षवाद के प्रभाव के अन्तर्गत, सौत्रान्तिक की ओर झुकाव बहुत कम था। किन्तु स्वतन्त्रविज्ञानवाद के परवर्ती सम्प्रदाय ने निरपेक्षवाद को ठोकर मारकर सौत्रान्तिक के बहुत्ववादी एवं व्यक्तिवादी विचारों को पुनर्जीवित किया, एवं इस प्रकार दृढ़ व्यक्तिवाद एवं सर्वाहंवाद के रूप में पतन को प्राप्त हुआ। इस प्रकार प्रारम्भ से ही विज्ञानवाद में आन्तरिक विग्रह बना रहा। इसके उद्भव एव विकास के कभी न मिलने वाले दो कारक हैं—माध्यमिक निरपेक्षवाद एव सौत्रान्तिक बहुत्ववाद, ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। पूर्ववर्ती विज्ञानवाद को बहुत्ववाद का दमन करना पड़ा एवं परवर्ती विज्ञानवाद ने निरपेक्षवाद को अर्धचन्द्रिका दे डाली!

विज्ञानवाद के दो महत्त्वपूर्ण प्रत्यय

विज्ञानवाद के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय हैं—अभूतपरिकल्प एवं शून्यता। अभूतपरिकल्प विज्ञानवाद की ओर ले जाता है एवं सौत्रान्तिक के धर्मों की आलोचना सूचित करता है। शून्यता निरपेक्षवाद की ओर ले जाती है एवं माध्यमिक स्थिति की एक रचनात्मक व्याख्या है, जो कि शून्यता को निषेधवाद समझने वाले असत्य मत की आलोचना को सूचित करती है। अभूतपरिकल्प का तात्पर्य है कि विषयी एव विषय विज्ञान पर असत्य आरोप है, जो विज्ञान ही एकमात्र सत् है। शून्यता का तात्पर्य है कि यह केवल निषेध नहीं है, अपितु किसी में किसी का निषेध है। जो प्रतीत होता है वह सत् है, किन्तु जिस रूप में प्रतीत होता है वह असत्। जिसका निषेध किया गया है वह भ्रमस्वरूप है, किन्तु इस भ्रम का आधार सत् है। शून्यता आत्यन्तिक निषेध नहीं है (ऐसा कुछ हो भी नहीं सकता), अपितु विज्ञान में विषयि-विषय के द्वैत का निषेध है। वह (विज्ञान)

जो (विषय-विषयि-द्वैत) से रहित है, सत् है, वह (विषयि-विषय-द्वैत) जिससे रहित है, वह असत् है। अभूतपरिकल्प का तात्पर्य है कि विषयि-विषय के द्वैत रूप यह संसार विज्ञान का, विज्ञान द्वारा, विज्ञान पर अध्यारोप है। शून्यता का तात्पर्य है कि वस्तुतः विज्ञान इस विषयि-विषय-द्वैत से पूर्णतः स्वतन्त्र है, यद्यपि यह इसका आधार प्रतीत होता है।

निरपेक्ष सत्

विज्ञानवाद के अनुसार निरपेक्ष सत् विशुद्ध, अद्वैत एवं शाश्वत चेतना (विज्ञप्तिमात्रता) है, जो कि समस्त आनुभविक जगत् का अनुभवातीत आधार भी है एवं अन्तर्यामी सत्ता भी है। विषयि-विषय-द्वैत का स्रोत है विषयगतता की आधारभूत धारणा, जो कि अविद्या का कार्य है। जब निरपेक्ष विज्ञान इस अविद्या द्वारा दूषित रूप में प्रतीत होता है, तब वह इस अनेकत्वपूर्ण आनुभविक जगत् के रूप में प्रतीत होता है। जब यह अविद्या अद्वैत को साक्षात्कार द्वारा दूर हो जाती है, तब निरपेक्षविज्ञान अपने मौलिक शुद्ध स्वरूप में प्रभास्वर हो उठता है। यद्यपि यह अविद्या आत्यन्तिक रूप से असत् है, किन्तु व्यवहारतः यह उस शक्ति के रूप में कार्य करती है जो कि शुद्ध एवं अद्वैत स्वरूप सत् को दुःख एवं वैविध्यपूर्ण आनुभविक जगत् के रूप में प्रकट करती है। यदि यह दूषण आत्यन्तिक रूप में असत् न होता तो मुक्ति न होती, एवं यदि दूषण सत् को तद्भिन्न रूप में प्रकट करने में पर्याप्त रूप से सत् न होता तो कोई दुःख न होता। यह दूषण संक्लेश के आनुभविक जगत् की ओर ले जाता है एवं उसकी शुद्धि 'व्यवदान' की ओर। विज्ञानवाद को संक्लेश एवं व्यवदान, बन्धन एवं निर्वाण का दर्शन कहना अनुचित न होगा; क्योंकि विज्ञानवाद के सभी ग्रन्थों में हमारे बन्धन के तथ्य पर एवं उससे मुक्ति पाने के उपाय पर बहुत अधिक बल दिया गया है। आत्यन्तिक रूप से तो बन्धन एव निर्वाण—दोनों ही अविद्या के परिणाम है एवं सत् शाश्वततः स्वतन्त्र एवं विशुद्ध है। किन्तु यह सत् के साक्षात्कार के अनन्तर ही सत्य है, उसके पूर्व नहीं। हमारे लिये दूषण सत्य है एवं इसीलिये विशुद्धि प्राप्त करना मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

निरपेक्ष विज्ञान

जब निरपेक्ष विज्ञान अविद्या द्वारा परिवर्तित रूप में प्रतीत होता है, तब यह दूषित प्रतीत होता है, यद्यपि इसकी शुद्धता कभी भी उससे दूर नहीं होती। अविद्या आत्मविरोधी है। यह सत् पर आवरण के रूप में कार्य करती है, एवं उसे तद्-भिन्न रूप में प्रकट (विक्षेप) भी करती है। अविद्या अपने सहज विकल्पों द्वारा कार्य करती है, जिसमें से सर्वाधिक आधारभूत है-ग्राह्य-ग्राहक वासना (विषयि-

विषय-द्वैत)। विज्ञप्तिमात्रता या निरपेक्षविज्ञान शुद्ध चेतना है, किन्तु अविद्या द्वारा यह स्व-चेतन इच्छा के रूप में प्रतीत होता है। अनुभवातीत "मैं" 'मैं हूँ' बन जाता है। स्व-चेतनता की पूर्वमान्यता विषयि-विषय-द्वैत है। विषयी तभी स्व-चेतन होता है, जब वह स्वयं को विषय के प्रतिपक्ष के रूप में स्वयं से भिन्न किसी के प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा करता करता है, एवं तब वह इस 'अन्य' से भिन्न रूप में स्वयं का विचार करता है। अतः उस असत्य प्रस्तुतीकरण का प्रमुख कार्य है विषयता की अवधारणा को जन्म देना एवं इस प्रकार चेतना को 'अन्य' के प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा करना। आवश्यक नहीं कि वह कोई सत् विषय हो, विषयता की अवधारणा ही पर्याप्त कार्यक्षम है। इच्छा सर्जनात्मक होती है एवं यह अपनी सामग्री का निर्माण कर उसे विषयरूप में मान लेती है। परिनिष्पन्न, जो सत् है, अब परतन्त्र बन जाता है, आश्रित, सापेक्ष बन जाता है, जो कि अविद्या का परिणाम है। प्रतीत्यसमुत्पाद, जो कि जरामरण के चक्र के रूप में संसार का या दुःख का चक्र है, तेजी से चल पड़ता है। और यह तब तक चलता ही रहता है, जबतक अविद्या अद्वैत साक्षात्कार द्वारा नष्ट नहीं हो जाती।

परिकल्पित धर्म

विज्ञानवाद के अनुसार पुद्गल एवं तथाकथित धर्म परिकल्पित हैं। उनकी सापेक्ष सत्ता भी नहीं है। वे विज्ञानपरिणाम पर अध्यारोपमात्र हैं। वे ऐसे आकार हैं जिनमें चेतना प्रतीत होती है, एवं भूल तब होती है जब चेतना के इन आकारों को चेतना से बाहर एवं स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व रखने वाली वस्तुगत सत्ता में मान लिया जाता है। विषयी एवं विषय सामान्य बुद्धि (लोक या पृथग्जन) के लिये यथार्थ हो सकते हैं, किन्तु वे वास्तविक दर्शन (शुद्ध लौकिक व्यवहार) के लिये यथार्थ नहीं हैं। जो कुछ यथार्थ है, चाहे आनुभविक दृष्टिकोण से ही क्यों न हो, चेतना द्वारा मान लिया गया विषयी और विषय का आकार है, तथाकथित विषयी और विषय नहीं। विषयी एवं विषय के क्षेत्र में प्रतीत्यसमुत्पाद का कार्य-कारण-नियम चरितार्थ नहीं होता, क्योंकि विकल्प कार्यकारणनियम से सम्बद्ध नहीं हो सकते। कार्यकारणनियम विज्ञानों के क्षेत्र में कार्य करता है जो कि इससे नियमित हैं, एवं इसीलिये सापेक्ष या परतन्त्र कहे जाते हैं। सत्ता, चाहे निरपेक्ष हो या सापेक्ष, विज्ञानों की ही है। स्मरणीय है कि विज्ञान का रूपपरिवर्तन आत्यन्तिक रूप से सत् नहीं है। वह वासना के कारण है, जो कि स्वयं अविद्या का परिणाम है। क्योंकि अविद्या अनुभवातीत भ्रमरूप है, समस्त सांसारिक प्रक्रिया, जो कि अविद्या का परिणाम है, अन्त में एक प्रदर्शनमात्र है।

सहोपलम्भनियम

विज्ञानवाद यह दिखाने का प्रयास करता है कि विषय विज्ञान की रचना या आरोप है; क्योंकि विषय एवं उसका विज्ञान सर्वदा साथ साथ पाये जाते हैं, विषय का होना उसके अनुभवगम्य होने में निहित है (सहोपलम्भनियम)। नील एवं नीलविज्ञान एक ही हैं (अभेदो नीलतद्धियोः)। विज्ञान का आकार बाह्य के रूप में जान पड़ता है (बहिर्वदवभासते)। प्रतिपक्षरूप विषय, जिसका होना अनुभवगम्य होने में निहित है, या सहोपलम्भनियम की केवल ज्ञानमीमांसीय यथार्थता है एव उसे सत्तामीमांसीय स्थिति नहीं दी जानी चाहिये। मन द्वारा उपलब्ध होना मन में रहना नहीं है। इस तथ्य से कि ज्ञान में विषय एवं विज्ञान साथ-साथ रहते हैं, हम यह अनुमानमात्र कर सकते हैं कि हम ज्ञान किये बिना नहीं जान सकते; इससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि विषय उपलब्ध हुए बिना नहीं रह सकते। अतएव विज्ञानवाद इस तर्क के पूरक के रूप में भ्रम (वस्तुतः विद्यमान वस्तु का अयथार्थ ज्ञान) दिवास्वप्न (वह अयथार्थ ज्ञान जो किसी वास्तविक वस्तु पर आधृत न हो) एवं स्वप्न पर आधृत तर्क प्रस्तुत करता है। जो भ्रमात्मक है उसकी वस्तुगत सत्ता नहीं होती। वह विज्ञान का आरोपमात्र होता है। इससे सिद्ध होता है कि विज्ञान अपनी सामग्री का निर्माण कर सकता है, इसे विषय के रूप में अध्यारोपित कर सकता है, एवं उसी रूप में इसकी उपलब्धि कर सकता है। एवं विज्ञान भ्रम, दिवास्वप्न या स्वप्न में ऐसा कर सकता है, तो यह निष्कर्ष निकालना पूर्णतः तर्कसंगत होगा कि वह हमारे तथाकथित विषयरूप जगत् की जाग्रत् अवस्था के अनुभव में भी ऐसा कर सकता है।

भ्रम सार्वभौम नहीं

यथार्थवादी इस पर कड़ी आपत्ति करते हुए कहते हैं कि भ्रम का सार्वभौमीकरण नहीं किया जाना चाहिये। वास्तविक जगत् भौतिक नियमों द्वारा नियन्त्रित है एवं देश—काल की सीमाओं में बँधा है। यह अर्थक्रिया की प्राप्ति करता है। एवं, सबसे ऊपर, यह सार्वजनिक है व्यक्तिगत नहीं; यह विषयिगत-अन्तर्भूत अनुभव का जगत् है। विज्ञानवाद का उत्तर है कि ये आक्षेप मिथ्या धारणा पर आधृत हैं। यह नहीं कहा जा रहा है कि यह आनुभविक जगत् हमारी वैयक्तिक चेतना (प्रवृत्ति-विज्ञान) की रचना है; अपितु यह सार्वभौम विज्ञान (आलयविज्ञान) की रचना है, जो अनुभवातीत विषयिता का सूचक है। संसार-भ्रम ब्रह्माण्डीय भ्रम है या सार्वभौम स्वप्न है, कोई साधारण आनुभविक भ्रम या स्वप्न नहीं। आनुभविक भ्रम या स्वप्न भी तो अपने नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं जो कि मनोवैज्ञानिक होते हैं; एवं देश-काल की सीमाओं में बँधे होते हैं। अपने क्षेत्र में यह भी अर्थक्रिया की प्राप्ति कराता

है, जबतक यह रहता है। यह वैयक्तिक होता है, सार्वजनिक नहीं; क्योंकि यह वैयक्तिक चेतना की रचना है, न कि सार्वभौम चेतना की। यहाँ भेद मात्रा का है, प्रकार का नहीं। इसके अतिरिक्त, इस तथाकथित विषयगत संसार को भी संसार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अनुभव आवश्यक रूप से वैयक्तिक होता है, एवं कोई भी दो अनुभविता किसी विषय को एक ही ढंग से नहीं देख सकते।

विषयगतता की अवधारणा भी विषय के अस्तित्व का पूर्वानुमान करती है—इस आपत्ति का विज्ञानवाद उत्तर देता है कि यह आपत्ति यहाँ असंगत है; क्योंकि जो भ्रम या स्वप्न में कार्य करता है वह विकल्प है, विषय नहीं। यथार्थवादी को भी यह मानना होगा कि रज्जु-सर्प को साक्षात् रूप से उत्पन्न करने वाला सर्प का विकल्प है, न कि स्वयं सर्प, कि विज्ञान सर्प का आकार धारण करता है, कि विज्ञान इस विषय के रूप में अध्यस्त करता है एवं उसे उस रूप में उपलब्ध करता है। वैसे ही तथाकथित वास्तविक सर्प, जो कि प्रवृत्तिविज्ञान के लिये बाह्य है, उच्चस्तरीय आलयविज्ञान का अध्यारोप है एव उसके लिये बाह्य नहीं है। तथा यदि यह 'सर्व' सर्व के वैयक्तिक विज्ञान की पूर्व मान्यता है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि किसी विचार (या अवधारणा) को किसी विषय की अपेक्षा होती है; इसका तात्पय केवल इतना है कि उच्चस्तरीय आलयविज्ञान किसी व्यक्तिविशेष के विचार की पूर्व मान्यता है। कोई विचार (या विज्ञान) दूसरे विचारमात्र से उत्पन्न हो सकता है, तथाकथित विषय से नहीं। चेतना की क्रियाशीलता का यह अर्थ नहीं कि वह वस्तुतः बाह्य विषयों को उत्पन्न करती है, अपितु इसका अर्थ केवल इतना है कि विचार स्वयं बाह्य विषय के रूप में भासित होता है। इसके अतिरिक्त, विषयता की अवधारणा अविद्या का परिणाम है एवं उसकी प्रकृति आनुभविक नहीं है।

आनुभविक भ्रम

विज्ञानवाद आनुभविक भ्रम (जैसे रज्जु-सर्पभ्रम) की प्रकृति का विश्लेषण करता है एवं इसे अनुभवातीत भ्रम (संसार) के दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करता है। आनुभविक भ्रम के विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि यह विषयता की भ्रान्त धारणा में निहित है, विज्ञान की क्रियाशीलता द्वारा अध्यारोपित एवं अभिधारित है एवं इसका आधार अन्ततः विशुद्ध एकरस विज्ञान है। उदाहरणार्थ, रज्जु-सर्प भ्रम में सर्प को प्रमाद से एक विषय के रूप में समझ लिया जाता है, एवं इस गलत विषयकरण से भ्रम होता है। सर्प भ्रामक है, क्योंकि उसे विषय का रूप दे दिया गया है। विषयरूप सर्प की अपेक्षा हमारी चेतना में उसका केवल आकार होता है। यह चेतना की क्रियाशीलता प्रदर्शित करता है जो कि सर्प को

विषय के रूप में अध्यस्त करती है एवं जब तक भ्रम रहता है, इसे बनाये रखती है। जब भ्रम का निवारण हो जाता है, तब हम समझ जाते हैं कि वहाँ कोई विषयरूप सर्प था ही नहीं एवं विज्ञान में उसका आकारमात्र प्रकट हुआ था। जबतक यह आकार रहता है, भ्रम बना रहता है। जब विषय का निषेध होता है तब इसका आकार भी पुनः विज्ञान में चला जाता है। दोनों साथ-साथ उत्पन्न होते हैं एवं साथ-साथ अन्तर्धान होते हैं। तथापि दोनों एक ही स्तर के नहीं होते। विषय पूर्णतः कल्पित है, जब कि इसका आकार विज्ञान से सम्बद्ध है एवं आनुभविक सत्ता रखता है, इस अर्थ में कि भ्रम के पश्चात् भी हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भ्रम के अन्तराल में विज्ञान सर्प के आकार में प्रकट हुआ था। इसे अस्वीकार करने पर भ्रम का कोई आधार ही नहीं रह जायेगा; क्योंकि यदि विज्ञान ने सर्प का आकार न ग्रहण किया होता, तो भ्रम की उत्पत्ति न होती। यह पृथक् बात है कि आधार अर्थात् विषयकारित विज्ञान, जो भ्रम को अध्यस्त करता है एवं बनाये रखता है, भ्रम के पश्चात् निष्क्रिय हो जाता है। इससे केवल यह प्रदर्शित होता है कि आधार भ्रम में पूर्णतः अन्तर्भूत है। आकार के अन्तर्धान हो जाने से इसके चरम रूप से सत् होने पर सन्देह किया जा सकता है, किन्तु भ्रम के आधार के रूप में इसकी आनुभविक सत्ता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता। अन्ततः ये आकार भी विशुद्ध विज्ञान पर अध्यारोपस्वरूप हैं, जो सद्रूप अनुभवातीत अधिष्ठान है।

यों, आनुभविक भ्रम के विश्लेषण से तीन तथ्य ज्ञात होते हैं, जो सत्ता के तीन विभिन्न स्तरों से सम्बन्ध रखते हैं, अर्थात् १. विषय जो अध्यस्त है, २. सक्रिय विज्ञान जो विषय का आकार ग्रहण करता है एवं ३. विशुद्ध एकरस विज्ञान जो अनुभवातीत आधार (अधिष्ठान) है एवं जो परोक्षतः भ्रम के आधार के रूप में प्रतीत होने पर भी वस्तुतः इससे पूर्णतः असम्पृक्त है। विज्ञानवाद में ये क्रमशः परिकल्पित (काल्पनिक), परतन्त्र (सापेक्ष), एवं परिनिष्पन्न (निरपेक्ष) कहे गये हैं। विषय (अर्थ) के रूप में सर्प पूर्णतः परिकल्पित है, विज्ञान में उसके आकार की सापेक्ष सत्ता है एवं विशुद्ध विज्ञान जो भ्रम के पूर्व पश्चात् एव उस अन्तराल में भी रहता है, निरपेक्ष सत् है।

अनुभवातीत भ्रम

आनुभविक भ्रम का यह विश्लेषण अनुभवातीत भ्रम पर भी चरितार्थ होता है। यदि रज्जु-सर्प या स्वप्न के विषय भ्रमरूप हैं, तो जागतिक विषय भी वैसे ही हैं। उनमें केवल मात्रा का अन्तर है, प्रकार का नहीं। भ्रम के विषय (रज्जु-सर्प आदि) वैयक्तिक विज्ञान के अध्यारोप हैं, अतः वैयक्तिक धुँधले एवं क्षणिक हैं। जागतिक

विषय सार्वभौम विज्ञान के अध्यारोप हैं अतएव सार्वभौम प्रबल एवं अपेक्षाकृत स्थायी हैं। वैयक्तिक विषयी (ग्राहक) एवं तथाकथित बाह्य विषय (ग्राह्य) 'परिकल्पित' हैं; विज्ञान का रूपान्तरण, जो कि इन्हें अध्यस्त करता है, 'परतन्त्र' है; एवं शुद्ध अद्वैत रूप विज्ञान 'परिनिष्पन्न' है। परिकल्पित एवं परतन्त्र दोनों ही इस संक्लिष्ट आनुभविक जगत् के घटक हैं एवं प्रतीति-क्षेत्र से सम्बद्ध हैं, जबकि निरपेक्ष सत् व्यवदानरूप एवं परमार्थ है।

विज्ञानवाद और वेदान्त में त्रिपक्षीय भेद

प्रायः विज्ञानवाद के परिकल्पित, परतन्त्र एव परिनिष्पन्न की तुलना वेदान्त के प्रतिभास, व्यवहार एवं परमार्थ से की जाती है। किन्तु इस सन्दर्भ में विज्ञानवाद एवं वेदान्त में महत्त्वपूर्ण भेद है। वैसे, परिनिष्पन्न एवं परमार्थ तो समान से ही हैं। किन्तु दोनों पद्धतियों में त्रिपक्षीय भेद का मानदण्ड भिन्न-भिन्न है। वेदान्त में भेद का मानदण्ड आनुभविक भ्रम (प्रतिभास) एवं अनुभवातीत या जागतिक भ्रम (व्यवहार) के बीच है। दोनों ही असत् हैं, किन्तु समानरूप से नहीं। जागतिक भ्रम उच्चस्तरीय है। दूसरी ओर, विज्ञानवाद में भेद का मानदण्ड परतन्त्र के रूप में भासित होने वाले सत् एवं इसके भासित होने के ढंग (परिकल्पित) के बीच है। विज्ञानवाद इसके आगे असत् का विश्लेषण नहीं करता। अध्यस्त विषय असत् है, चाहे वह आनुभविक भ्रम का अध्यारोप हो या अनुभवातीत का। प्रत्येक भ्रम में दो घटक होते हैं—१. वह आधार जो अध्यारोप करता है (आश्रय) एवं २. अध्यारोपित विषय (अध्यस्त)। प्रथम की संज्ञा परतन्त्र एवं द्वितीय की परिकल्पित है। यों, विज्ञानवाद व्यवहार एव प्रतिभास दोनों को परतन्त्र एवं परिकल्पित में पुनः विश्लेषित करेगा। परतन्त्र एव परिकल्पित वे घटक हैं जो प्रत्येक भ्रम में पाये जाते हैं, चाहे वह प्रतिभासिक हो या व्यावहारिक। वेदान्त परिकल्पित एवं परतन्त्र दोनों को ही समानरूप से असत् कहेगा एवं आनुभविक एवं अनुभवातीत भ्रम में भेद करेगा।

वेदान्त के अनुसार मुख्य भेद सत् एवं उसकी प्रतीति में है एवं प्रतीति के दो स्तर माने जा सकते हैं—आनुभविक एवं अनुभवातीत। विज्ञानवाद के अनुसार मुख्य भेद सत्, जैसा वह स्वयं में है अर्थात् अपरतन्त्र, एवं अविद्या द्वारा परतन्त्र के रूप में प्रतीयमान सत् के बीच है, एवं इसकी प्रतीति का ढंग सदैव असत् होता है। वेदान्त में स्तरभेद प्रतीति में है, विज्ञानवाद में स्तरभेद सत्ता में है।

अभूतपरिकल्प

शून्यता के समान ही, 'अभूतपरिकल्प' शब्द इन्द्रियगम्य वस्तुजगत् एवं अतीन्द्रिय—दोनों के लिये ही प्रयुक्त होता है। शून्यता के समान ही, जब वह

इन्द्रियगम्य (फेनोमिना) के लिये प्रयुक्त होता है तब उसका अर्थ 'स्वभावशून्यता' या 'स्वतन्त्र भाव का निषेध' अर्थात् 'सापेक्षता' होता है। और जब 'अभूतपरिकल्प' शब्द निरपेक्ष के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है, तब सक्रिय विज्ञान द्वारा अध्यस्त एवं अवधारित, विषयि-विषय रूप जगत् होता है। क्योंकि विज्ञानवाद संवृति या इन्द्रियानुभवगम्य जगत् का विभाजन परिकल्पित एवं परतन्त्र में करता है, अतः 'परिकल्पित' के सन्दर्भ में अभूतपरिकल्प का अर्थ है अध्यस्त विषयी एवं विषय, तथा परतन्त्र के सन्दर्भ में उसका अर्थ है सक्रिय विज्ञान जो इस भ्रम को अध्यस्त करता है। **परिनिष्पन्न** को शुद्ध विज्ञान या उस अनुभवातीत आधार के अर्थ में अभूतपरिकल्प कहा गया है, जो कि भ्रम से परे रहते हुए भी, परोक्षतः स्वयं पर अध्यारोप होने देता है [अभूतस्य परिकल्पो यस्मिन् सः]। **परतन्त्र** को सक्रिय विज्ञान के अर्थ में अभूतपरिकल्प कहा गया है, जो कि अपने रूपान्तरण के माध्यम से जागतिक भ्रम को स्वयं के अन्तर्यामी आधार के रूप में अध्यस्त करता है एवं उसे बनाये रखता है [अभूतस्य परिकल्पो यस्मात् सः]। परिकल्पित को इस अर्थ में अभूतपरिकल्प कहा गया है कि वह विषयि-विषय द्वैत है, जो असत् है, एवं जो विज्ञान के रूपान्तरण पर अध्यारोपित है [अभूतश्चासौ परिकल्पितश्च]।

आलयविज्ञान

यद्यपि इन सभी तीन स्वभावों को तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में 'अभूतपरिकल्प' कहा गया है, तथापि इसका प्रयोग मुख्यतः परतन्त्र अथवा अष्टपक्षीय विज्ञान के लिये हुआ है, जो कि इस अध्यारोप का आधार एवं साधन है, एवं यहाँ भी वह मुख्यतः आलयविज्ञान के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो कि इन आठ विज्ञानों में प्रथम एवं सर्वोपरि है, निरपेक्ष विज्ञान द्वारा स्वयं को विभिन्न रूपों में प्रकट करने की त्रिपक्षीय प्रक्रिया में प्रथम स्तर है। निरपेक्ष विज्ञान या विज्ञप्तिमात्रता, जो कि विशुद्ध अद्वैतरूप विज्ञान है, अविद्या या मूलवासना के परिणामस्वरूप सक्रिय एवं स्वचेतन इच्छा के रूप में प्रतीत होती है। तब उसे आलयविज्ञान कहा जाता है। यह परतन्त्र या सापेक्ष है, क्योंकि अविद्या द्वारा प्रत्युत्पन्न है, जोकि प्रतीत्यसमुत्पाद के कारणात्मक चक्र का आरम्भ बिन्दु है। यह स्वयं निरपेक्ष ही है जो विषयि-विषय द्वैत द्वारा दूषित रूप में प्रतीत होता है। इसे 'आलय' कहते हैं, क्योंकि वह सभी विज्ञानों की वासनाओं के बीजों का सङ्ग्रहस्थान है, जोकि इसमें सम्भाव्य परिणामों के रूप में निहित रहते हैं एवं जब वास्तविक रूप में आते हैं तब स्पष्ट रूप से जान पड़ते हैं। इसे आश्रय के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि यह समस्त इन्द्रियगम्य जगत् का अन्तर्यामी आधार है, जोकि इसके अध्यारोप हैं। यह धारा के समान परिवर्तनशील एवं प्रवाहयुक्त है। इसके अन्तर्गत वैयक्तिक चेतनाओं (प्रवृत्तिविज्ञानों) की

असंख्य तरंगें निहित रहती हैं। निर्वाण में यह सूख जाता है एवं आश्रयपरावृत्ति होती है।

क्लिष्ट मन

विज्ञान की अभिव्यक्ति के द्वितीय स्तर को 'क्लिष्ट मन' कहा गया है। यह आलयविज्ञान (सार्वभौम चेतना या विज्ञान) (वैयक्तिक चेतना) के बीच की शृङ्खला (कड़ी) है। इसे मनोविज्ञानसंज्ञक प्रवृत्तिविज्ञान अथवा साधारण आनुभविक चेतना से भिन्न समझा जाना चाहिये। सार्वभौम का वैयक्तीकरण विकल्पना द्वारा सम्भव होता है। अतः कहा गया है कि क्लिष्ट मन या आनुभविक 'अहम्' (आत्मा) का सारतत्त्व विकल्पना या मनन में निहित है।

क्लिष्ट मन अपने अन्तर्निहित वैचारिक आकारों के माध्यम से आलयविज्ञान की अनिश्चित (अपरिभाषित) सामग्री को आनुभविक ज्ञान के निश्चित विकल्पों के रूप में विशिष्ट करता है। आलय का विषयी (ग्राहक) पक्ष स्वयं को क्लिष्ट मन की वैयक्तिक धाराओं के रूप में अभिव्यक्त करता है एवं विषय (ग्राह्य) पक्ष विभिन्न प्रवृत्तिविज्ञानों के रूप में, जो विषयविज्ञप्ति कहे जाते हैं। प्रत्येक क्लिष्ट मन एक वैयक्तिक अहं है एवं चेतना की वैयक्तिक धारा के एकत्व का प्रतिनिधित्व करता है; जबकि आलय अनुभवातीत अहं के रूप में, ऐसी सभी धाराओं का सहभाव है। साधारण मनोविज्ञान आनुभविक चेतना का एक क्षण या मनोदशा है, जो कि एक शृङ्खला के रूप में प्रवाहित है, जब कि क्लिष्ट मन इस शृङ्खला की एकता है। यह निर्वाण में नहीं रहता और न समाधि या पारगामी अवस्थाओं में ही रहता है।

आनुभविक चेतना

विज्ञान की अभिव्यक्ति का तृतीय एवं अन्तिम स्तर व्यक्ति की आनुभविक चेतना है। यह विषय के निश्चित बोध में निहित है एवं इसे विषयविज्ञप्ति या विषय-चेतना कहा जाता है। यह छह प्रकार की होती है, जिनमें से रूप, रस, स्पर्श, गन्ध एवं शब्द के पाँच इन्द्रिय ज्ञानों को बाह्य एवं छठे अर्थात् विचारों, भावनाओं एवं इच्छारूप मानसिक स्थितियों को आध्यात्मिक कहा गया है। ये सभी क्लिष्ट मन के विषय हैं। ये आलय के अध्यारोप हैं, क्लिष्ट मन तो केवल उन्हें ग्रहण करता है, एवं ज्ञान के रूप में एकत्व प्रदान करता है। भ्रम, दिवास्वप्न एवं स्वप्न के विषय तथा शुद्ध काल्पनिक विषय क्लिष्ट मन के अध्यारोप हैं। क्लिष्ट मन की इस संज्ञा का कारण यह है कि वह सर्वदा क्लेश से दूषित रहता है। मनोविज्ञान सर्वदा क्लिष्ट मन की धारा में, इन्द्रिय-ज्ञानों के साथ या उनके बिना भी उत्पन्न एवं प्रवाहित होता रहता है, केवल निर्वाण, पारगामी अवस्थाओं, सुषुप्ति,

मूर्छा एवं मृत्यु की दशाओं को छोड़कर। आलयविज्ञान की निरन्तरता ही, इन व्यवधानों के रहते हुए भी, आनुभविक अस्तित्व की निरन्तरता का कारण है।

विज्ञान का यह विकास केवल तार्किक है एवं उसे ऐतिहासिक प्रक्रिया समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। निरपेक्ष का वस्तुतः रूपान्तरण नहीं होता। यह तो अनुभवातीत भ्रम के परिणामस्वरूप होने वाली एक प्रतीतिमात्र है। विज्ञान के इन आठ प्रकारों में से कोई भी चरम नहीं है। जब परतन्त्र परिकल्पित अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक द्वैत से (विरहित होकर) विशुद्ध हो जाता है, तब उसका रूपान्तरण रुक जाता है एवं वह परिनिष्पन्न हो जाता है, जो कि वह वस्तुतः सर्वदा से ही है। विज्ञान तब भी, जब वह द्वैत द्वारा दूषित होता है, सत् ही रहता है। केवल द्वैत के उस आरोपित लक्षण का असत् के रूप में निषेध किया जाता है, एवं विशुद्ध विज्ञान के रूप में इसके स्वभाव की पुनः स्वीकृति दी जाती है।

अविद्या १. क्लेशावरण एवं २. ज्ञेयावरण इन द्विविध आवरणों की जननी है। प्रथम आवरण सत् को आवृत्त कर देता है एवं उसके स्थान पर असत् का अध्यारोप (विक्षेप) करता है। द्वितीय का कारण है 'मैं' एव 'मेरा' का असत्य प्रत्यय, एव यह अनेक क्लेशों उपक्लेशों की ओर ले जाता है। ज्ञेयावरण 'अविद्या का घूँघट' है एवं उसका सार विषयता के असत्य प्रत्यय (या धारणा) में निहित है। यह अज्ञानरूप है जिसे अक्लिष्ट या अननुभविक कहा गया है, क्योंकि यह अनुभवातीत स्तर पर प्रतिष्ठित है। पुद्गलनैरात्म्य अथवा यह ज्ञान कि आत्मा एक प्रतीतिमात्र है, क्लेशावरण को दूर करता है। धर्मनैरात्म्य या यह ज्ञान कि विषयता की धारणा अविद्या का परिणाम है, ज्ञेयावरण को दूर करती है। जब साक्षात्कार द्वारा अविद्या निरस्त हो जाती है, तब विशुद्ध अद्वैतरूप विज्ञान अपने मौलिक विशुद्ध रूप रूप में प्रभास्वर हो उठता है अद्वैतानुभव प्राप्त करने के लिये साधना आवश्यक है, जिससे अविद्या निरस्त होती है।

जिस प्रकार जल, स्वर्ण एव आकाश स्वयं में शुद्ध होते हैं किन्तु कीचड़, मल एवं धुए के कारण वे मलिन प्रतीत हो सकते हैं। एव जब यह आगन्तुक अशुद्धता दूर कर दी जाती है तो अपने शुद्ध स्वभाव को पुनः प्राप्त करते प्रतीत होते हैं; उसी प्रकार निरपेक्ष विज्ञान अविद्या-दूषित प्रतीत हो सकता है, एवं जब अविद्या दूर कर दी जाती है तब वह अपनी मौलिक विशुद्धता को पुनः प्राप्त करता प्रतीत होता है। परिकल्पित के ज्ञानमात्र से उसका निरास हो जाता है इसे कहते हैं—'परिज्ञान'। विषयि-विषय द्वैत के अनुभवातीत भ्रम से, जो निषेध्य है, परतन्त्र को शुद्ध करना होता है—इसे कहते हैं 'प्रहाण'। परिनिष्पन्न का साक्षात्कार करना होता है—इसे कहते हैं 'साक्षात्कार'। यही जीवन का लक्ष्य है।

साधना के चार प्रमुख स्तर

१. इस साधना के प्रथम स्तर को 'सम्भारमार्ग' या 'सङ्ग्रह करने का मार्ग' कहते हैं। यह नैतिक-आध्यात्मिक प्रस्तुति का स्तर है। इसके अन्तर्गत पुण्यसम्भार या नैतिक गुणों के संग्रह एवं ज्ञानसम्भार या आध्यात्मिक प्रज्ञा के संग्रह आते हैं। इसमें केवल नैतिक गुण ही पर्याप्त नहीं हैं, अपितु आध्यात्मिक ज्ञान अधिक मूल्यवान् एवं अपरिहार्य है।

२. द्वितीय के तीन स्तर हैं—श्रुतमय या श्रवण एवं स्वाध्याय द्वारा प्राप्त शाब्दिक ज्ञान, चिन्तामय या गहन चिन्तन-मनन, जो कि गम्भीर आलोचनात्मक विचारों का परिणाम है, एवं भावनामार्ग या ध्यान द्वारा अपरोक्ष ज्ञान। ये तीनों स्तर वेदान्त के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से साम्य रखते हैं।

इनमें द्वितीय स्तर को 'प्रयोगमार्ग' या 'अभ्यास का मार्ग' कहते हैं। इसके अन्तर्गत, गुणों का एवं ज्ञान का ध्यान-भावना द्वारा प्रभूत विकास किया जाता है। साधक वीर्य एवं प्रीति के साथ बाधाओं के निराकरण के लिये एवं बोधिपक्षों तथा पारमिताओं को प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ता है। चार स्मृत्युपस्थान, चार प्रकार के वीर्य, चार ऋद्धिपाद, पाँच आध्यात्मिक इन्द्रियाँ एवं पाँच बल—इन्हें विकसित, विवर्धित एवं प्रबल करना होता है। इसके लिये बौद्धिक क्षमता एवं इच्छा के नैरन्तर्य तथा अपरोक्षानुभव की अपेक्षा होती है। यह 'अंधेरी रात एवं उषःकाल' का स्तर है।

३. तृतीय स्तर को दर्शनमार्ग या ज्ञान-मार्ग कहा जाता है। इसके अन्तर्गत सात बोध्यङ्गों का विकास एवं विवर्धन आता है। बोधिसत्त्व यहाँ प्रथमभूमि प्रमुदिता में प्रवेश करता है एवं सभी में अनुस्यूत अद्वैत सत् के साक्षात्कार का आनन्द लेता है [सर्वत्रगार्थप्रतिवेध]। यह 'तीर्थाटन के आरम्भ का स्तर' है।

४. चतुर्थ एवं सर्वोच्च स्तर को 'भावनामार्ग' या 'ध्यान का मार्ग' कहा गया है। इसके अन्तर्गत, आठ मार्गाङ्गों के उच्च विकास द्वारा, आगामी नौ भूमियों की प्राप्ति आती है। ये आध्यात्मिक उन्नति के सोपान हैं एवं जब बोधिसत्त्व दसवीं धर्ममेघा भूमि में प्रवेश करता है, तब वह सर्वोच्च स्तर पर पहुँच गया होता है तथा बुद्ध के युवराज के रूप में अभिषिक्त होता है। तत्पश्चात् वह मुक्त भाव से बुद्धभूमि में प्रवेश करता है, जहाँ सभी आवरण नष्ट हो जाते हैं एवं सत् का अपरोक्षानुभव (साक्षात्कार) होता है। यही निर्वाण है।

द्विविध निर्वाण

इस निर्वाण के दो प्रकार बतलाये गये हैं—निरुपधिशेष एवं सोपधिशेष। प्रथम में, सत् के साथ पूर्ण एकता स्थापित हो जाती है। द्वितीय में यद्यपि सभी आवरण नष्ट हो जाते हैं एवं सत् के साथ एकत्व भी रहता ही है, तथापि बोधिसत्त्व दुःखी सत्त्वों के उद्धारार्थ लोक में कार्य करना चाहते है। सत् के अपरोक्षानुभव को 'तथता-ज्ञान' या 'निर्विकल्प-ज्ञान' कहते हैं। इस का अर्थ सर्वज्ञत्व है एवं यह ग्राह्य-ग्राहक द्वैत से पूर्णतः मुक्त है। साथ ही, यह अनिर्वचनीय आनन्द है। इस अनुभव को किसी तरह भाषा में व्यक्त करना या अन्य तक पहुँचाना असम्भव है। इस अनुभव के पश्चात्, जब बोधिसत्त्व अन्यों को निर्वाण का लाभ कराने के लिये कार्य करने हेतु विचार के स्तर पर उतरता है, तब वह संसार को उसके यथार्थ रूप में देखता है एवं निरपेक्ष के साथ अपनी एकता को कभी नहीं खोता। उसका आनुभविक ज्ञान भी, सत् के दर्शन के कारण, वस्तुतः विमल रहता है। इस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान या तत्पृष्ठलब्ध शुद्धलौकिक ज्ञान कहते हैं। यह सविकल्प या निश्चित होने पर भी, विमल ही रहता है। सत् के साक्षात्कार के पश्चात् या उसके परिणामस्वरूप यह उत्पन्न होता है एवं बोधिसत्त्व को मानवता की निःस्वार्थ सेवा करने योग्य बनाता है। तथा स्वयं अविचल रहता हुआ संसार को सञ्चालित करता है।



आर्यमैत्रेयकृतमध्यान्तविभागशास्त्रस्य

विषय-सूची

**श्रीमध्यान्तविभागाख्यशास्त्रस्य शुभदस्य वै।
भाष्य-टीके अनुसृत्य तायते विषयक्रमः॥**



आर्यमैत्रेयप्रणीता

मध्यान्तविभागशास्त्रकारिकाः

लक्षणपरिच्छेदः प्रथमः

लक्षणं ह्यावृत्तिस्तत्त्वं प्रतिपक्षस्य भावना ।
तत्राऽवस्था फलप्राप्तिर्यानाऽऽनुत्तर्यमेव च ॥ १ ॥
अभूतपरिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते ॥ २ ॥
न शून्यं नापि चाशून्यं तस्मात् सर्वं विधीयते ।
सत्त्वादसत्त्वात् सत्त्वाच्च मध्यमा प्रतिपच्च सा ॥ ३ ॥
अर्थसत्त्वात्मविज्ञप्तिप्रतिभासं प्रजायते ।
विज्ञानं नास्ति चास्यार्थस्तदभावात्तदप्यसत् ॥ ४ ॥
अभूतपरिकल्पत्वं सिद्धमस्य भवत्यतः ।
न तथा सर्वथाऽभावात् तत्क्षयान्मुक्तिरिष्यते ॥ ५ ॥
कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च ।
अर्थादभूतकल्पाच्च द्वयाभावाच्च देशितः ॥ ६ ॥
उपलब्धिं समाश्रित्य नोपलब्धिः प्रजायते ।
नोपलब्धिं समाश्रित्य नोपलब्धिः प्रजायते ॥ ७ ॥
उपलब्धेस्ततः सिद्धा नोपलब्धिस्वभावता ।
तस्माच्च समता ज्ञेया नोपलम्भोपलम्भयोः ॥ ८ ॥
अभूतपरिकल्पश्च चित्तचैत्तास्त्रिधातुकाः ।
तत्रार्थदृष्टिर्विज्ञानं तद्विशेषे तु चैतसाः ॥ ९ ॥
एकं प्रत्ययविज्ञानं द्वितीयं चौपभोगिकम् ।
उपभोगपरिच्छेदप्रेरकास्तत्र चैतसाः ॥ १० ॥
छादनाद् रोपणाच्चैव नयनात् सम्परिग्रहात् ।
पूरणात् त्रिपरिच्छेदादुपभोगाच्च कर्षणात् ॥ ११ ॥
निबन्धनादाभिमुख्याद् दुःखनात् क्लिश्यते जगत् ।
त्रेधा द्वेधा च संक्लेशः सप्तधाऽभूतकल्पनात् ॥ १२ ॥
लक्षणं चाऽथ पर्यायस्तदर्थो भेद एव च ।
साधनं चेति विज्ञेयं शून्यतायाः समासतः ॥ १३ ॥
द्वयाभावो ह्यभावस्य भावः शून्यस्य लक्षणम् ।
न भावो नापि चाभावो न पृथक्त्वैकलक्षणम् ॥ १४ ॥

तथता भूतकोटिश्चानिमित्तं परमार्थता।
धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः ॥ १५ ॥
अनन्यथाऽविपर्यासतन्निरोधार्यगोचरैः ।
हेतुत्वाच्चार्यधर्माणां पर्यायार्थो यथाक्रमम् ॥ १६ ॥
संक्लिष्टा च विशुद्धा च समला निर्मला च सा।
अब्धातुकनकाकाशशुद्धिवच्छुद्धिरिष्यते ॥ १७ ॥
भोक्तृभोजनतद्देहप्रतिष्ठावस्तुशून्यता ।
तच्च येन यथा दृष्टं यदर्थं तस्य शून्यता ॥ १८ ॥
शुभद्वयस्य प्राप्त्यर्थं सदा सत्त्वहिताय च।
संसारात्यजनार्थञ्च कुशलस्याक्षयाय च ॥ १९ ॥
गोत्रस्य च विशुद्ध्यर्थं लक्षणव्यञ्जनाप्तये।
शुद्धये बुद्धधर्माणां बोधिसत्त्वः प्रपद्यते ॥ २० ॥
पुद्गलस्याऽथ धर्माणामभावः शून्यताऽत्र हि।
तदभावस्य सद्भावस्तस्मिन् सा शून्यताऽपरा ॥ २१ ॥
संक्लिष्टा चेद् भवेन्नाऽसौ मुक्ताः स्युः सर्वदेहिनः।
विशुद्धा चेद् भवेन्नाऽसौ व्यायामो निष्फलो भवेत् ॥ २२ ॥
न क्लिष्टा नापि वाक्लिष्टा शुद्धाशुद्धा न चैव सा।
प्रभास्वरत्वाच्चित्तस्य क्लेशस्यागन्तुकत्वतः ॥ २३ ॥

॥ इति लक्षणपरिच्छेदः प्रथमः ॥

आवरणपरिच्छेदो द्वितीयः

व्यापि प्रादेशिकोद्रिक्तसमादानविवर्जनम् ।
द्वयावरणमाख्यातं नवधा क्लेशलक्षणम् ॥ १ ॥
संयोजनान्यावरणमुद्वेगसमुपेक्षयोः ।
तत्त्वदृष्टेश्च सत्कायदृष्टेस्तद्वस्तुनोऽपि च ॥ २ ॥
निरोधमार्गरत्नेषु लाभसत्कार एव च।
संक्लेशस्य परिज्ञाने शुभादौ दशधाऽपरम् ॥ ३ ॥
अप्रयोगोऽनायतनेऽयोगविहितश्च यः ।
नोत्पत्तिरमनस्कारः सम्भारस्याप्रपूर्णता ॥ ४ ॥
गोत्रमित्रस्य वैधुर्यं चित्तस्य परिखेदिता।
प्रतिपत्तेश्च वैधुर्यं कुदुष्टजनवासता ॥ ५ ॥

दौष्ठुल्यमवशिष्टत्वं त्रयात् प्रज्ञाऽविपक्वता ।
प्रकृत्या चैव दौष्ठुल्यं कौसीद्यं च प्रमादिता ॥ ६ ॥
सक्तिर्भवे च भोगे च लीनचित्तत्वमेव च ।
अश्रद्धाऽनधिमुक्तिश्च यथारुतविचारणा ॥ ७ ॥
सद्धर्मेऽगौरवं लाभे गुरुताऽकृपता तथा ।
श्रुतव्यसनमल्पत्वं समाध्यपरिकर्मिता ॥ ८ ॥
शुभं बोधिः समादानं धीमत्त्वाऽभ्रान्त्यनावृती ।
तत्त्यत्रासोऽमत्सरित्वं वशित्वञ्च शुभादयः ॥ ९ ॥
त्रीणि त्रीणि च एतेषां ज्ञेयान्यावरणानि हि ।
पक्ष्यपारमिताभूमिष्वन्यदावरणं पुनः ॥ १० ॥
वस्त्वकौशलकौसीद्यं समाधेर्द्वयहीनता ।
अरोपणाथ दौर्बल्यं दृष्टिदौष्ठुल्यदुष्टता ॥ ११ ॥
ऐश्वर्यस्याथ सुगतेः सत्वात्यागस्य चावृत्तिः ।
हानिवृद्ध्योश्च दोषाणां गुणानामवतारणे ॥ १२ ॥
विमोचनेऽक्षयत्वे च नैरन्तर्ये शुभस्य च ।
नियतीकरणे धर्मसम्भोगपरिपाचने ॥ १३ ॥
सर्वत्रगार्थे अग्रार्थे निष्यन्दाग्रार्थ एव च ।
निष्परिग्रहतार्थे च सन्तानाभेद एव च ॥ १४ ॥
निस्संक्लेशविशुद्ध्यर्थेऽनानात्वार्थ एव च ।
अहीनानधिकार्थे च चतुर्धावशिताश्रये ॥ १५ ॥
धर्मधातावविद्येयमक्लिष्टा दशधावृतिः ।
दशभूमिविपक्षेण प्रतिपक्षास्तु भूमयः ॥ १६ ॥
क्लेशावरणमाख्यातं ज्ञेयावरणमेव च ।
सर्वाण्यावरणानीह यत्क्षयान्मुक्तिरिष्यते ॥ १७ ॥

॥ इत्यावरणपरिच्छेदो द्वितीयः ॥

तत्त्वपरिच्छेदतस्तृतीयः

मूललक्षणतत्त्वाभ्यामविपर्यासलक्षणम् ।
फलहेतुमयं तत्त्वं सूक्ष्मौदारिकमेव च ॥ १ ॥
प्रसिद्धं शुद्धिविषयं संग्राह्य भेदलक्षणम् ।
कौशल्यतत्त्वं दशधा आत्मदृष्टिविपक्षतः ॥ २ ॥

स्वभावस्त्रिविधोऽसच्च नित्यं सच्चाप्यतत्त्वतः।
सदसत्तत्त्वतश्चेति स्वभावत्रयमिष्यते ॥ ३ ॥
समारोपाऽवादस्य धर्मपुद्गलयोरिह ।
ग्राह्यग्राहकयोश्चापि भावाऽभावे च दर्शनम् ॥ ४ ॥
यज्ज्ञानान्न प्रवर्तेत तद्धि तत्त्वस्य लक्षणम् ।
असदर्थो ह्यनित्यार्थ उत्पादव्ययलक्षणः ॥ ५ ॥
समलामलभावेन मूलतत्त्वे यथाक्रमम् ।
दुःखमादानलक्ष्माख्यं सम्बन्धेनाऽपरं मतम् ॥ ६ ॥
अभावश्चाप्यतद्भावः प्रकृतिः शून्यता मता ।
अलक्षणञ्च नैरात्म्यं तद्विलक्षणमेव च ॥ ७ ॥
स्वलक्षणञ्च निर्दिष्टम् दुःखसत्यमतो मतम् ।
वासनाऽथ समुत्थानमविसंयोग एव च ॥ ८ ॥
स्वभावद्वयनोत्पत्तिर्मलशान्तिद्वयं मतम् ।
परिज्ञायां प्रहाणे च प्राप्तिसाक्षात्कृतावयम् ॥ ९ ॥
मार्गसत्यं समाख्यातम् प्रज्ञप्तिप्रतिपत्तितः ।
तथोद्भावनयोदारं परमार्थन्तु एकतः ॥ १० ॥
अर्थप्राप्तिप्रपत्या हि परमार्थस्त्रिधा मतः ।
निर्विकाराऽविपर्यासपरिनिष्पत्तितो द्वयम् ॥ ११ ॥
लोकप्रसिद्धमेकस्मात् त्रयाद् युक्तिप्रसिद्धकम् ।
विशुद्धगोचरं द्वेधा एकस्मादेव कीर्तितम् ॥ १२ ॥
निमित्तस्य विकल्पस्य नाम्नश्च द्वयसङ्ग्रहः ।
सम्यग्ज्ञानसतत्त्वस्य एकेनैव च सङ्ग्रहः ॥ १३ ॥
प्रवृत्तितत्त्वं द्विविधं सन्निवेशकुपन्नता ।
एकं लक्षणविज्ञप्तिशुद्धिसम्यक्प्रपन्नता ॥ १४ ॥
एकहेतुत्वभोक्तृत्वकर्तृत्ववशवर्तने ।
आधिपत्यार्थनित्यत्वे क्लेशशुद्ध्याश्रयेऽपि च ॥ १५ ॥
योगित्वाऽमुक्तमुक्तत्वे आत्मदर्शनमेषु हि ।
परिकल्पविकल्पार्थधर्मतार्थेन तेषु ते ॥ १६ ॥
अनेकत्वाऽभिसङ्क्षेपपरिच्छेदार्थं आदितः ।
ग्राहकग्राह्यतद्ग्राहबीजार्थश्चापरो मतः ॥ १७ ॥
वेदितार्थपरिच्छेदभोगायद्वारतोऽपरम् ।
पुनर्हेतुफलायासानारोपानपवादतः ॥ १८ ॥

अनिष्टेष्टविशुद्धीनां समोत्पत्त्याधिपत्ययोः ।
सम्प्राप्तिसमुदाचरपारतन्त्र्यार्थतोऽपरम् ॥ १९ ॥
ग्रहणस्थानसन्धानभोगशुद्धिद्वयार्थतः ।
फलहेतूपयोगार्थनोपयोगात्तथाऽपरम् ॥ २० ॥
वेदनासनिमित्तार्थतन्निमित्तप्रपत्तितः ।
तच्छमप्रतिपक्षार्थयोगादपरमिष्यते ॥ २१ ॥
गुणदोषाऽविकल्पेन ज्ञानेन परतः स्वयम् ।
निर्याणादपरं ज्ञेयं सप्रज्ञप्तिसहेतुकात् ॥ २२ ॥
निमित्तात् प्रशमात् सार्थात् पश्चिमं समुदाहृतम् ॥

॥ इति तत्त्वपरिच्छेदस्तृतीयः ॥

प्रतिपक्षभावनाऽवस्थाफलपरिच्छेदश्चतुर्थः

दौष्ठुल्यात् तर्षहेतुत्वाद् वस्तुत्वादविमोहतः ।
चतुस्सत्यावताराय स्मृत्युपस्थानभावना ॥ १ ॥
परिज्ञाते विपक्षे च प्रतिपक्षे च सर्वथा ।
तदपायाय वीर्यं हि चतुर्धा सम्प्रवर्तते ॥ २ ॥
कर्मण्यता स्थितेस्तत्र सर्वार्थानां समृद्धये ।
पञ्चदोषप्रहाणाऽष्टसंस्कारासेवनान्वया ॥ ३ ॥
कौसीद्यमववादस्य सम्मोषो लय उद्धवः ।
असंस्कारोऽथ संस्कारः पञ्च दोषा इमे मताः ॥ ४ ॥
आश्रयोऽथाश्रितस्तस्य निमित्तं फलमेव च ।
आलम्बनेऽसम्मोषो लयौद्धत्यानुबुद्धयना ॥ ५ ॥
तदपायाऽभिसंस्कारः शान्तौ प्रशठवाहिता ।
रोपिते मोक्षभागीये च्छन्दयोगाधिपत्यतः ॥ ६ ॥
आलम्बनेऽसम्मोषाविसारविचयस्य च ।
विपक्षस्य हि संलेखात् पूर्वस्य फलमुत्तरम् ॥ ७ ॥
द्वौ द्वौ निर्वेधभागीयाविन्द्रियाणि बलानि च ।
आश्रयाङ्गं स्वभावाङ्गं निर्याणाङ्गं तृतीयकम् ॥ ८ ॥
चतुर्थमनुशंसाङ्गं निःक्लेशाङ्गं त्रिधा मतम् ।
निदानेनाश्रयेणेह स्वभावेन च देशितम् ॥ ९ ॥
परिच्छेदोऽथ सम्प्राप्तिः परसम्भावना त्रिधा ।
विपक्षप्रतिपक्षश्च मार्गस्याङ्गं तदष्टधा ॥ १० ॥

दृष्टौ शीलेऽथ संलेखे परविज्ञप्तिरिष्यते ।
क्लेशोपक्लेशवैभुत्वविपक्षप्रतिपक्षता ॥ ११ ॥
अनुकूला विपर्यस्ता सानुबन्धा विपर्यया ।
अविपर्यस्तविपर्यासाऽननुबन्धा च भावना ॥ १२ ॥
आलम्बनमनस्कारप्राप्तितस्तद्विशिष्टता ।
हेत्ववस्थाऽवताराख्या प्रयोगफलसंज्ञिता ॥ १३ ॥
कार्यकार्यविशिष्टा च उत्तराऽनुत्तरा च सा ।
अधिमुक्तौ प्रवेशे च निर्याणे व्याकृतावपि ॥ १४ ॥
कथिकत्वेऽभिषेके च सम्प्राप्तावनुशंसने ।
कृत्यानुष्ठान उद्दिष्टा धर्मधातौ त्रिधा पुनः ॥ १५ ॥
अशुद्धाशुद्धशुद्धा च विशुद्धा च यथार्थतः ।
पुद्गलानां व्यवस्थानं यथायोगमतो मतम् ॥ १६ ॥
भाजनत्वं विपाकाख्यं बलं तस्याधिपत्यतः ।
रुचिर्वृद्धिर्विशुद्धिश्च फलमेतद् यथाक्रमम् ॥ १७ ॥
उत्तरोत्तरमाद्यञ्च तदभ्यासात् समाप्तितः ।
आनुकूल्याद् विपक्षाच्च विसंयोगाद् विशेषतः ॥ १८ ॥
उत्तरानुत्तरत्वाच्च फलमन्यत् समासतः ।

॥ इति प्रतिपक्षभावनादिपरिच्छेदश्चतुर्थः ॥

यानाऽऽनुत्तर्यपरिच्छेदः पञ्चमः

१. त्रिविधमानुत्तर्यम्

आनुत्तर्यं प्रपत्तौ हि पुनरालम्बने मतम् ।
समुदागम उद्दिष्टम्; प्रतिपत्तिस्तु षड्विधा ॥ १ ॥
परमाऽथ मनस्कारे अनुधर्मेऽन्तवर्जने ।
विशिष्टा चाविशिष्टा च परमा द्वादशात्मिका ॥ २ ॥
औदार्यमायतत्वञ्च अधिकारोऽक्षयात्मता ।
नैरन्तर्यमकृच्छ्रत्वं वित्तत्वञ्च परिग्रहः ॥ ३ ॥
आरम्भप्राप्तिनिष्यन्दनिष्पत्तिः परमा मता ।
ततश्च परमार्थेन दश पारमिता मताः ॥ ४ ॥
दानं शीलं क्षमा वीर्यं ध्यानं प्रज्ञा उपायता ।
प्रणिधानं बलं ज्ञानमेताः पारमिता दश ॥ ५ ॥

अनुग्रहोऽविघातश्च कर्म तस्य च मर्षणम् ।
गुणवृद्धिश्च सामर्थ्यमवतारविमोचने ॥ ६ ॥

अक्षयत्वं सदा वृत्तिर्नियतं भोगपाचने ।
यथाप्रज्ञप्तितो धर्ममहायानमनस्क्रिया ॥ ७ ॥

बोधिसत्त्वस्य सततं प्रज्ञया त्रिप्रकारया ।
धातुपुष्टयै प्रवेशाय चार्थसिद्धयै भवत्यसौ ॥ ८ ॥

संयुक्ता धर्मचरितैः सा ज्ञेया दशभिः पुनः ।
लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ॥ ९ ॥

प्रकाशनाऽथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावना च तत् ।
अमेयपुण्यस्कन्धं हि चरितं तद् दशात्मकम् ॥ १० ॥
विशेषादक्षयत्वाच्च परानुग्रहतोऽशमात् ।
अविक्षिप्ताऽविपर्यासप्रणता चानुधार्मिकी ॥ ११ ॥
व्युत्थानं विषये सारस्तथास्वादलयोद्धवः ।
सम्भावनाभिसन्धिश्च मनस्कारेऽप्यहङ्कृतिः ॥ १२ ॥
हीनचित्तञ्च विक्षेपः परिज्ञेयो हि धीमता ।
व्यञ्जनार्थमनस्कारेऽविसारे लक्षणद्वये ॥ १३ ॥
अशुद्धशुद्धावागन्तुकत्वेऽत्रासिताऽनुन्नतौ ।
संयोगात् संस्तवाच्चैव वियोगादप्यसंस्तवात् ॥ १४ ॥
अर्थसत्त्वमसत्त्वञ्च व्यञ्जने सोऽविपर्ययः ।
द्वयेन प्रतिभासत्व तथा चाविद्यमानता ॥ १५ ॥
अर्थे स चाऽविपर्यासः सदसत्त्वेन वर्जितः ।
तज्जल्पभावितो जल्पमनस्कारस्तदाश्रयः ॥ १६ ॥
मनस्कारेऽविपर्यासो द्वयप्रख्यानकारणे ।
मायादिवदसत्त्वञ्च सत्त्वञ्चार्थस्य तन्मतम् ॥ १७ ॥
सोऽविसारेऽविपर्यासो भावाभावाविसारतः ।
सर्वस्य नाममात्रत्वं सर्वकल्पाऽप्रवृत्तये ॥ १८ ॥
स्वलक्षणेऽविपर्यासः परमार्थे स्वलक्षणे ।
धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद् धर्मो न विद्यते ॥ १९ ॥
सामान्यलक्षणं तस्मात् स च तत्राविपर्ययः ।
विपर्यस्तमनस्काराऽविहानिपरिहाणितः ॥ २० ॥
तदशुद्धिर्विशुद्धिश्च स च तत्राविपर्ययः ।
धर्मधातोर्विशुद्धत्वात् प्रकृत्या व्योमवत् पुनः ॥ २१ ॥

द्वयस्यागन्तुकत्वं हि स च तत्राविपर्ययः।
संक्लेशश्च विशुद्धिश्च धर्मपुद्गलयोर्न हि ॥ २२ ॥
असत्त्वात् त्रासता-मानौ नातः सोऽत्राविपर्ययः।
पृथक्त्वैकत्वमन्तश्च तीर्थ्यश्रावकयोरपि ॥ २३ ॥
समारोपापवादान्तो द्विधा पुद्गलधर्मयोः।
विपक्षप्रतिपक्षाऽन्तः शाश्वतोच्छेदसंज्ञितः ॥ २४ ॥
ग्राह्यग्राहकसंक्लेशव्यवदाने द्विधा त्रिधा।
विकल्पद्वयतान्तश्च स च सप्तविधो मतः ॥ २५ ॥
भावाऽभावे प्रशाम्येऽथ शमने त्रास्यतद्भये।
ग्राह्यग्राहेऽथ सम्यक्त्वमिथ्यात्वे व्यापृतौ न च ॥ २६ ॥
अजन्मसमकालत्वे स विकल्पद्वयाऽन्तता।
विशिष्टा चाऽविशिष्टा च ज्ञेया दशसु भूमिषु ॥ २७ ॥
व्यवस्थानं तथा धातुः साध्यसाधनधारणा।
अवधारप्रधारा च प्रतिवेधः प्रतानता ॥ २८ ॥
प्रगमः प्रशठत्वञ्च प्रकर्षालम्बनं मतम्।
अवैकल्याप्रतिक्षेपोऽविक्षेपश्च प्रपूरणा ॥ २९ ॥
समुत्पादो निरूढिश्च कर्मण्यत्वाप्रतिष्ठिता।
निरावरणता तस्याऽप्रस्रब्धिसमुदागमः ॥ ३० ॥
शास्त्रं मध्यविभागं हि गूढसारार्थमेव च।
महार्थञ्चैव सर्वार्थं सर्वानर्थप्रणोदनम् ॥ ३१ ॥

॥ इति यानानुत्तर्यपरिच्छेदः पञ्चमः ॥

समाप्ता मध्यान्तविभागशास्त्रकारिकाः

★ ॐ नमो बुद्धाय ★

आर्यवसुबन्धुपादैर्विरचितं

मध्यान्तविभागशास्त्रभाष्यम्

लक्षणपरिच्छेदः प्रथमः

मङ्गलम्

शास्त्रस्यास्य प्रणेतारमभ्यर्हय सुगतात्मजम् ।
वक्तारं चास्मदादिभ्यो यतिष्येऽर्थविवेचने ।।

१. शास्त्रशरीरम्

तत्रादितः शास्त्रशरीरं व्यवस्थाप्यते –

लक्षणं ह्यावृतिस्तत्त्वं प्रतिपक्षस्य भावना ।
तत्रावस्था फलप्राप्तिर्यानाऽऽनुत्तर्यमेव च ।। १ ।।

इत्येते सप्तार्था ह्यस्मिन् शास्त्र उपदिश्यन्ते । यदुत—लक्षणम्, आवरणम्, तत्त्वम्, प्रतिपक्षस्य भावना, तस्यामेव च प्रतिपक्षभावनायामवस्था, फलप्राप्तिः, यानानुत्तर्यं च सप्तमोऽर्थः ।। १ ।।

२. शून्यतालक्षणम्

तत्र लक्षणमारभ्याह––

अभूतपरिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते ।। २ ।।

तत्राभूतपरिकल्पो ग्राह्यग्राहकविकल्पः । द्वयं ग्राह्यं ग्राहकं च । शून्यता तस्याभूतपरिकल्पस्य ग्राह्यग्राहकभावेन विरहितता । तस्यामपि स विद्यत इत्यभूतपरिकल्पः । एवं यद्यत्र नास्ति तत्तेन शून्यमिति यथाभूतं समनुपश्यति । यत्पुनरत्रावशिष्टं भवति तत्सदिहास्तीति यथाभूतं प्रजानातीत्यविपरीतं शून्यतालक्षणमुद्भावितं भवति ।। २ ।।

न शून्यं नापि चाशून्यं तस्मात् सर्वं विधीयते ।
सत्त्वादसत्त्वात् सत्त्वाच्च मध्यमा प्रतिपच्च सा ।।३।।

न शून्यं शून्यतया च अभूतपरिकल्पेन च, न चाऽशून्यं द्वयेन ग्राह्येण ग्राहकेण च, सर्वं संस्कृतं चाभूतपरिकल्पाख्यमसंस्कृतं च शून्यताख्यं विधीयते निर्दिश्यते । सत्त्वादभूतपरिकल्पस्य, असत्त्वाद् द्वयस्य, सत्त्वाच्च शून्यतायाः

अभूतपरिकल्पे, तस्यां चाभूतपरिकल्पस्य, **सा च मध्यमा प्रतिपद्** यत् सर्वं नैकान्तेन शून्यं नैकान्तेनाशून्यम्। एवमयं पाठः **प्रज्ञापारमितादिष्वनुलोमितो** भवति--सर्वमिद न शून्यं नापि चाशून्यमिति ॥ ३ ॥

एवमभूतपरिकल्पस्य सल्लक्षणमसल्लक्षणं च ख्यापयित्वा **स्वलक्षणं** ख्यापयति—

अर्थसत्त्वात्मविज्ञप्तिप्रतिभासं प्रजायते।
विज्ञानं नास्ति चास्यार्थस्तदभावात्तदप्यसत् ॥ ४ ॥

तत्र १. अर्थप्रतिभासं यद्रूपादिभावेन प्रतिभासते। २. सत्त्वप्रतिभासं यत्पञ्चेन्द्रियत्वेन स्वपरसन्तानयोः। ३. आत्मप्रतिभासं क्लिष्टं मनः; आत्ममोहादिसम्प्रयोगात्। ४. विज्ञप्तिप्रतिभासं षड्विज्ञानानि। **नास्ति चास्यार्थ** इत्यर्थसत्त्वप्रतिभासस्यानाकारत्वात्, आत्मविज्ञप्तिप्रतिभासस्य च वितथप्रतिभासत्वात्। **तदभावात्तदप्यसदिति** यत्तद् ग्राह्यं रूपादि पञ्चेन्द्रियं मनः षड्विज्ञानसंज्ञकं चतुर्विधम्, तस्य ग्राह्यस्यार्थस्याभावात् तदपि ग्राहकं विज्ञानमसत् ॥ ४ ॥

अभूतपरिकल्पत्वं सिद्धमस्य भवत्यतः।
न तथा सर्वथाऽभावात्,

यस्मान्न तथास्य भावो यथा प्रतिभास उत्पद्यते। न च सर्वथाभावः; भ्रान्तिमात्रस्योत्पादात् ॥

किमर्थं पुनस्तस्याभाव एव नेष्यते ? यस्मात्—

तत्क्षयान्मुक्तिरिष्यते ॥५॥

अन्यथा न बन्धो न मोक्षः प्रसिध्येदिति संक्लेशव्यवदानापवाददोषः स्यात् ॥ ५ ॥

एवमभूतपरिकल्पस्य स्वलक्षणं ख्यापयित्वा **संग्रहलक्षणं** ख्यापयति, अभूतपरिकल्पमात्रे सति यथा त्रयाणां स्वभावानां संग्रहो भवति--

कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च।
अर्थादभूतकल्पाच्च द्वयाभावाच्च देशितः ॥ ६ ॥

१. अर्थः परिकल्पितः स्वभावः। २. अभूतपरिकल्पः परतन्त्रः स्वभावः। ग्राह्यग्राहकभावः परिनिष्पन्नः स्वभावः ॥ ६ ॥

इदानीं तस्मिन्नेवाभूतपरिकल्पेऽसल्लक्षणानुप्रवेशोपायलक्षणं परिदीपयति—

उपलब्धिं समाश्रित्य नोपलब्धिः प्रजायते।
नोपलब्धिं समाश्रित्य नोपलब्धिः प्रजायते ॥ ७ ॥

विज्ञप्तिमात्रोपलब्धिं निश्रित्यार्थानुपलब्धिर्जायते। अर्थानुपलब्धिं निश्रित्य विज्ञप्तिमात्रस्याप्यनुपलब्धिर्जायते। एवमसल्लक्षणं ग्राह्यग्राहकयोः प्रविशति ॥

उपलब्धेस्ततः सिद्धा नोपलब्धिस्वभावता।

उपलभ्यार्थाभाव उपलब्ध्ययोगात् ॥

तस्माच्च समता ज्ञेया नोपलम्भोपलम्भयोः ॥ ८ ॥

उपलब्धेरुपलब्धित्वेनासिद्धत्वात्। अभूतार्थप्रतिभासतया तूपलब्धिरित्युच्यते अनुपलब्धिस्वभावापि सती ॥ ८ ॥

तस्यैवेदानीमभूतपरिकल्पस्य **प्रभेदलक्षणं** ख्यापयति—

अभूतपरिकल्पश्च चित्तचैत्तास्त्रिधातुकाः।

कामरूपारूप्यावचरभेदेन ॥

पर्यायलक्षणं च ख्यापयति—

तत्रार्थदृष्टिर्विज्ञानं तद्विशेषे तु चैतसाः ॥ ९ ॥

तत्रार्थमात्रे दृष्टिर्विज्ञानम्। अर्थविशेषे दृष्टिश्चैतसा वेदनादयः ॥ ९ ॥

प्रवृत्तिलक्षणं च ख्यापयति—

एकं प्रत्ययविज्ञानं द्वितीयम् चौपभोगिकम्।

उपभोगपरिच्छेदप्रेरकास्तत्र चैतसाः ॥ १० ॥

आलयविज्ञानमन्येषां विज्ञानानां प्रत्ययत्वात् प्रत्ययविज्ञानम्। तत्प्रत्ययं प्रवृत्तिविज्ञानमौपभोगिकम्। उपभोगो वेदना। परिच्छेदः संज्ञा। प्रेरकाः संस्कारा विज्ञानस्य चेतनामनस्कारादयः ॥ १० ॥

संक्लेशलक्षणं च ख्यापयति—

छादनाद् रोपणाच्चैव नयनात् सम्परिग्रहात्।

पूरणात् त्रिपरिच्छेदादुपभोगाच्च कर्षणात् ॥ ११ ॥

निबन्धनादाभिमुख्याद् दुःखनात् क्लिश्यते जगत्।

तत्र १. छादनाद् अविद्यया यथाभूतदर्शनविबन्धनात्। २. रोपणात् संस्कारैर्विज्ञाने कर्मवासनायाः प्रतिष्ठापनात्। ३. नयनाद् विज्ञानोपपत्तिस्थानसम्प्रापणात्। ४, सम्परिग्रहान्नामरूपेणात्मभावस्य। ५. पूरणात् षडायतनेन। ६. त्रिपरिच्छेदात् स्पर्शेन। ७. उपभोगाद् वेदनया। ८. कर्षणात् तृष्णया कर्माक्षिप्तस्य पुनर्भवस्य। ९. निबन्धनादुपादानैर्विज्ञानस्योत्पत्त्यनुकूलेषु कामादिषु। १०. आभिमुख्याद् भवेन कृतस्य कर्मणः पुनर्भवे विपाकदानाभिमुखीकरणात्। ११. दुःखनाज्जात्या जरामरणेन च, परिक्लिश्यते जगत् ॥

सोऽयम्—

त्रेधा द्वेधा च संक्लेशः सप्तधाऽभूतकल्पनात् ॥ १२ ॥

त्रेधा संक्लेशः-क्लेशसंक्लेशः, कर्मसंक्लेशः, जन्मसंक्लेशश्च । तत्र क्लेश-संक्लेशोऽविद्यातृष्णोपादानानि । कर्मसंक्लेशः संस्कारा भवश्च । जन्मसंक्लेशः शेषाण्यङ्गानि ।

द्वेधा संक्लेशो हेतुसंक्लेशः, फलसंक्लेशश्च । तत्र हेतुसंक्लेशः क्लेशकर्म-स्वभावैरङ्गैः । फलसंक्लेशश्च शेषैः ।

सप्तधा संक्लेशः सप्तविधो हेतुः—विपर्यासहेतुराक्षेपहेतुरुपनयहेतुः परि-ग्रहहेतुरुपभोगहेतुराकर्षणहेतुरुद्वेगहेतुश्च । तत्र १, विपर्यासहेतुरविद्या । २. आक्षेपहेतुः संस्काराः । ३. उपनयहेतुर्विज्ञानम् । ४. परिग्रहहेतुर्नामरूप-षडायतने । ५. उपभोगहेतुः स्पर्शवेदने । ६. आकर्षणहेतुस्तृष्णोपादानभवाः । ७. उद्वेगहेतुर्जातिजरामरणे ।

सर्वश्चैष संक्लेशोऽभूतपरिकल्पात् प्रवर्तत इति ।

पिण्डार्थः पुनः—अभूतपरिकल्पस्य नवविधं लक्षणं परिदीपितं भवति—सल्लक्षणमसल्लक्षणं स्वलक्षणं संग्रहलक्षणमसल्लक्षणानुप्रवेशोपायलक्षणं प्रभेदलक्षणं पर्यायलक्षणं प्रवृत्तिलक्षणं संक्लेशलक्षणं च ॥ १२ ॥

एवमभूतपरिकल्पं ख्यापयित्वा यथा शून्यता विज्ञेया, तन्निर्दिशति—

लक्षणं चाऽथ पर्यायस्तदर्थो भेद एव च ।
साधनं चेति विज्ञेयं शून्यतायाः समासतः ॥ १३ ॥

कथं लक्षणं विज्ञेयम् ?

द्वयाऽभावो ह्यभावस्य भावः शून्यस्य लक्षणम् ।

द्वयस्य=ग्राह्यग्राहकस्याभावः । तस्य चाभावस्य भावः शून्यताया लक्षण-मित्यभावस्वभावलक्षणत्वं शून्यतायाः परिदीपितं भवति ॥

यश्चासौ तदभावस्वभावः सः—

न भावो नापि चाभावः,

कथं न भावः ? यस्माद् द्वयस्याभावः । कथं नाभावः ? यस्माद् द्वयाभावस्य भावः । एतच्च शून्यताया लक्षणम् ॥

तस्मादभूतपरिकल्पात्—

न पृथक्त्वैकलक्षणम् ॥ १४ ॥

पृथक्त्वे सति धर्माद्न्या धर्मतेति न युज्यते, अनित्यतादुःखतावत् । एकत्वे सति विशुद्ध्यालम्बनं ज्ञानं न स्यात् सामान्यलक्षणं च । एतेन तत्त्वा-न्यत्वविनिर्मुक्तं लक्षणं परिदीपितं भवति ॥ १४ ॥

३. शून्यताव्यवस्थानम्

कथं पर्यायो विज्ञेयः ?

तथता भूतकोटिश्चानिमित्तं परमार्थता ।
धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः ॥ १५ ॥

कथं पर्यायार्थो विज्ञेयः ?

अनन्यथाऽविपर्यासतन्निरोधार्यगोचरैः ।
हेतुत्वाच्चार्यधर्माणां पर्यायार्थो यथाक्रमम् ॥ १६ ॥

अनन्यथार्थेन तथता, नित्यं तथैवेति कृत्वा । अविपर्यासार्थेन भूतकोटिः, विपर्यासावस्तुत्वात् । निमित्तनिरोधार्थेनानिमित्तं सर्वनिमित्ताभावात् । आर्यज्ञानगोचरत्वात्परमार्थः; परमज्ञानविषयत्वात् । आर्यधर्महेतुत्वाद् धर्मधातुरार्यधर्माणां तदालम्बनप्रभवत्वात् । हेत्वर्थो ह्यत्र धात्वर्थः ॥ १६ ॥

कथं शून्यतायाः प्रभेदो ज्ञेयः ?

संक्लिष्टा च विशुद्धा च,

इत्यस्याः प्रभेदः ॥

कस्यामवस्थायां संक्लिष्टा, कस्यां विशुद्धा ?

समला निर्मला च सा ।

यदा सह मलेन वर्तते तदा संक्लिष्टा । यदा प्रहीणमला तदा विशुद्धा ॥

यदि समला भूत्वा निर्मला भवती, कथं विकारधर्मिणीत्वादनित्या न भवति ? यस्मादस्याः—

अब्धातु-कनकाऽऽकाशशुद्धिवच्छुद्धिरिष्यते ॥ १७ ॥

आगन्तुकमलापगमात्; न तु तस्याः स्वभावान्यत्वं भवति ।

अयमपरः प्रभेदः[1] । षोडशविधा शून्यता—अध्यात्मशून्यता, बहिर्द्धाशून्यता, अध्यात्मबहिर्द्धाशून्यता, महाशून्यता, शून्यताशून्यता, परमार्थशून्यता, संस्कृतशून्यता, असंस्कृतशून्यता, अत्यन्तशून्यता, अनवराग्रशून्यता, अनवकारशून्यता[2], प्रकृतिशून्यता, लक्षणशून्यता, सर्वधर्मशून्यता, अभावशून्यता, अभावस्वभावशून्यता । सैषा समासतो वेदितव्या ॥ १७ ॥

भोक्तृ-भोजन-तद्देह-प्रतिष्ठावस्तुशून्यता ।
तच्च येन यथा दृष्टं यदर्थं तस्य शून्यता ॥ १८ ॥

तत्र भोक्तृशून्यता आध्यात्मिकान्यायतनान्यारभ्य । भोजनशून्यता बाह्यानि । तद्देहस्तयोर्भोक्तृभोजनयोर्यदधिष्ठानं शरीरं तस्य शून्यताध्यात्म-

---

१. प्रज्ञापारमिताशास्त्रानुसारमिति शेषः ।

बहिर्द्धाशून्यतेत्युच्यते। प्रतिष्ठावस्तु भाजनलोकस्तस्य विस्तीर्णत्वाच्छून्यता महाशून्यतेत्युच्यते। तच्चाध्यात्मिकायतनादि येन शून्यं दृष्टं शून्यताज्ञानेन तस्य शून्यता शून्यताशून्यता। यथा च दृष्टं परमार्थाकारेण तस्य शून्यता परमार्थशून्यता। यदर्थं च बोधिसत्त्वः प्रपद्यते तस्य च शून्यता ॥ १८ ॥

किमर्थं च प्रपद्यते ?

शुभद्वयस्य प्राप्त्यर्थम्,

कुशलस्य संस्कृतस्य, असंस्कृतस्य च।

सदा सत्त्वहिताय च।

अत्यन्तसत्त्वहितार्थम्।

संसारात्यजनार्थं च,

अनवराग्रस्य हि संसारस्य शून्यतामपश्यन् खिन्नः संसारं परित्यजेत् ॥

कुशलस्याक्षयाय च ॥ १९ ॥

निरुपधिशेषनिर्वाणेऽपि यन्नावकिरति नोत्सृजति, तस्य शून्यतानवकार-शून्यतेत्युच्यते ॥ १९ ॥

गोत्रस्य च विशुद्ध्यर्थम्,

गोत्रं हि प्रकृतिः; स्वाभाविकत्वात् ॥

लक्षणव्यञ्जनाप्तये।

महापुरुषलक्षणानां सानुव्यञ्जनानां प्राप्तये ॥

शुद्धये बुद्धधर्माणां बोधिसत्त्वः प्रपद्यते ॥ २० ॥

बलवैशारद्यावेणिकादीनाम्। एवं तावच्चतुर्दशानां शून्यतानां व्यवस्थानं वेदितव्यम् ॥ २० ॥

का पुनरत्र शून्यता ?

पुद्गलस्याथ धर्माणामभावः शून्यतात्र हि।
तदभावस्य सद्भावस्तस्मिन् सा शून्यता परा ॥ २१ ॥

पुद्गलधर्माभावश्च शून्यता। तद्भावस्य च सद्भावः। तस्मिन् यथोक्ते भोक्त्रादौ सान्या शून्यतेति शून्यतालक्षणख्यापनार्थं द्विविधामन्ते शून्यतां व्यवस्थापयति—अभावशून्यतामभावस्वभावशून्यतां च, पुद्गलधर्म-समारोपस्य तच्छून्यतापवादस्य च परिहारार्थं यथाक्रमम्। एवं शून्यतायाः प्रभेदो विज्ञेयः ॥ २१ ॥

कथं साधनं विज्ञेयम् ?

संक्लिष्टा चेद् भवेन्नाऽसौ मुक्ता स्युः सर्वदेहिनः ।
विशुद्धा चेद् भवेन्नाऽसौ व्यायामो निष्फलो भवेत् ॥ २२ ॥

यदि धर्माणां शून्यता आगन्तुकैरुपक्लेशैरनुत्पन्नेऽपि प्रतिपक्षे न संक्लिष्टा भवेत्, संक्लेशाभावादयत्नत एव मुक्ताः सर्वसत्त्वा भवेयुः । अथोत्पन्नेऽपि प्रतिपक्षे न शुद्धा भवेत्, मोक्षार्थमारम्भो निष्फलो भवेत् ॥ २२ ॥

एवं च कृत्वा--

न क्लिष्टा नापि चाक्लिष्टा शुद्धाशुद्धा न चैव सा ।

कथं न क्लिष्टा नापि चाशुद्धा ? प्रकृत्यैव—

प्रभास्वरत्वाच्चित्तस्य;

कथं नाक्लिष्टा न शुद्धा ?

क्लेशस्यागन्तुकत्वतः ॥ २३ ॥

एवं शून्यताया उद्दिष्ट प्रभेदः साधितो भवति ॥ २३ ॥

४. शून्यतापिण्डार्थः

तत्र शून्यतायाः पिण्डार्थो लक्षणतो व्यवस्थानतश्च वेदितव्यः । तत्र लक्षणतः, अभावलक्षणतः, भावलक्षणतश्च । भावलक्षणं पुनर्भावाभावविनिर्मुक्तलक्षणतश्च तत्त्वान्यत्वविनिर्मुक्तलक्षणतश्च । व्यवस्थानं पुनः पर्यायादिव्यवस्थानतो वेदितव्यम् । तत्रैतया चतुष्प्रकारदेशनया शून्यतायाः स्वलक्षणं कर्मलक्षणं संक्लेशव्यवदानलक्षणं युक्तिलक्षणं चोद्भावितं भवति—

विकल्पत्रासकौसीद्यविचिकित्सोपशान्तये ॥

॥ मध्यान्तविभागभाष्ये लक्षणपरिच्छेदः प्रथमः ॥

आवरणपरिच्छेदो द्वितीय

१. व्याप्याद्यावरणम्

आवरणमधिकृत्याह—

व्यापि प्रादेशिकोद्रिक्तसमादानविवर्जनम् ।

द्वयावरणमाख्यातम्;

तत्र व्यापि क्लेशज्ञेयावरणं बोधिसत्त्वगोत्रकाणां साकल्यात् । प्रादेशिकं क्लेशावरणं श्रावकादिगोत्रकाणाम् । उद्रिक्तं तेषामेव रागादिचरितानाम् । समं समभागचरितानाम् । संसारादानत्यागावरणं बोधिसत्त्वगोत्रकाणामप्रतिष्ठितनिर्वाणवरणादित्येतद् यथायोगमुभयेषामावरणमाख्यातं बोधिसत्त्वगोत्रकाणां श्रावकादिगोत्रकाणां च ॥

२. प्रयोगावरणम्

पुनः—

नवधा क्लेशलक्षणम् ॥ १ ॥

संयोजनान्यावरणम्,

नव संयोजनानि क्लेशावरणम् ॥

कस्यैतान्यावरणम् ?

उद्वेगसमुपेक्षयोः ।

तत्त्वदृष्टेश्च,

अनुनयसंयोजनं संवेगस्यावरणम् । प्रतिघसंयोजनमुपेक्षायाः । तेन हि प्रतिकूलमपि प्रतिघवस्तूपेक्षितुं न शक्नोति । शेषाणि तत्त्वदर्शनस्यावरणम् ॥

कथं कृत्वा ? तानि हि यथाक्रमम्—

सत्कायदृष्टेस्तद्वस्तुनोऽपि च ॥ २ ॥

निरोधमार्गरत्नेषु लाभसत्कार एव च ।

संलेखस्य परिज्ञाने;

संयोजनान्यावरणं भवति । १. मानसंयोजनं हि सत्कायदृष्टिपरिज्ञाने भवत्यावरणम्; अभिसमयकाले सान्तरव्यन्तरास्मिमानसमुदाचारवशेन तदप्रहाणात् । २. अविद्यासंयोजनं सत्कायदृष्टिवस्तुपरिज्ञाने; तेनोपादानस्कन्धापरिज्ञानात् । ३. दृष्टिसंयोजनं निरोधसत्यपरिज्ञाने; सत्कायान्तग्राह-

दृष्टिभ्यां तदुत्त्रासात् मिथ्यादृष्टचा चापवादात्। ४. परामर्शसंयोजनं मार्गसत्यपरिज्ञाने; अन्यथाग्रशुद्धिपरामर्शनात्। ५. विचिकित्सासंयोजनं रत्नत्रयपरिज्ञाने; तद्गुणानभिश्रद्धानात्। ६. ईर्ष्यासंयोजनं लाभसत्कारपरिज्ञाने; तद्दोषादर्शनात्। ७. मात्सर्यसंयोजनं संलेखपरिज्ञाने परिष्काराध्यवसानात्॥

३. हेत्वावरणम्

शुभादौ दशधाऽपरम्॥ ३॥

अपरं पुनरावरणं दशविधे शुभादौ वेदितव्यम्। किं तदावरणम्? के च शुभादयः?

अप्रयोगोऽनायतनेऽयोगविहितश्च यः।
नोत्पत्तिरमनस्कारः सम्भारस्याऽप्रपूर्णता॥ ४॥
गोत्रमित्रस्य वैधुर्यं चित्तस्य परिखेदिता।
प्रतिपत्तेश्च वैधुर्यं कुदुष्टजनवासता॥ ५॥
दौष्ठुल्यमवशिष्टत्वं त्रयात् प्रज्ञाऽविपक्वता।
प्रकृत्या चैव दौष्ठुल्यं कौसीद्यं च प्रमादिता॥ ६॥
सक्तिर्भवे च भोगे च लीनचित्तत्वमेव च।
अश्रद्धानधिमुक्तिश्च यथारुतविचारणा॥ ७॥
सद्धर्मेऽगौरवं लाभे गुरुताऽकृपता तथा।
श्रुतव्यसनमल्पत्वं समाध्यपरिकर्मिता॥ ८॥

एतदावरणम्॥ ४-८॥

के शुभादयः?

शुभं बोधिः समादानं धीमत्त्वाऽभ्रान्त्यनावृतौ।
नत्यत्रासामत्सरित्वं वशित्वञ्च शुभादयः॥ ९॥

एषां शुभादीनां कस्य कत्यावरणानि ज्ञेयानि? इत्याह—

त्रीणि त्रीणि च एतेषां ज्ञेयान्यावरणानि हि।

कुशलस्य त्रीण्यावरणानि—अप्रयोगोऽनायतनप्रयोगोऽयोनिशः प्रयोगश्च। बोधेस्त्रीणि—कुशलस्यानुत्पत्तिः, अमनसिकरणम्, अपरिपूर्णसम्भारता च। समादानं बोधिचित्तोत्पादः। तस्य त्रीणि—गोत्रवैधुर्यम्, कल्याणमित्रवैधुर्यम्, परिखेदचित्तता च। धीमत्त्वं बोधिसत्त्वता। तस्याः प्रज्ञाने त्रीण्यावरणानि—प्रतिपत्तिवैधुर्यम्, कुजनवासः, दुष्टजनवासश्च। तत्र कुजनः=मूर्खजनः, दुष्टजनः प्रतिहतः। अभ्रान्तेस्त्रीणि—विपर्यासदौष्ठुल्यम्, क्लेशाद्यावरणत्रया-

दन्यतमावशिष्टता, विमुक्तिपरिपाचिन्याः प्रज्ञाया अपरिपक्वता च। आवरणप्रहाणमनावरणम्। तस्य त्रीणि—सहजदौष्ठुल्यम्, कौसीद्यम्, प्रमादश्च। परिणतेस्त्रीणि, यैरन्यत्र चित्तं परिणमयति नानुत्तरस्यां सम्यक्सम्बोधौ—भवसक्तिर्भोगसक्तिर्लीनचित्तता च। अत्रासस्य त्रीणि—असम्भावना, पुद्गलेऽनधिमुक्तिः, धर्मे यथारुतविचारणार्थे। अमात्सर्यस्य त्रीणि—सद्धर्मेऽगौरवम्, लाभसत्कारपूजायां गौरवम्, सत्त्वेष्वकारुण्यं च। वशित्वस्य त्रीणि, यैर्विभुत्वं न लभते—श्रुतव्यसनं धर्मव्यसनसंवर्तनीयकर्मप्रभवनात्, अल्पश्रुतत्वं, समाधेरपरिकर्मितत्वं च॥

तत्पुनरेतदावरणं शुभादौ यत्रार्थे दश कारणानि तदर्थाधिकारेण वेदितव्यम्। दश कारणानि—१. उत्पत्तिकारणम्, तद्यथा चक्षुरादयश्चक्षुर्विज्ञानस्य। २. स्थितिकारणम्, तद्यथा चत्वार आहाराः सत्त्वानाम्, ३. धृतिकारणम्, यद्यस्याधारभूतं तद्यथा भाजनलोकः सत्त्वलोकस्य, ४. अभिव्यक्तिकारणम्, तद्यथा आलोको रूपस्य। ५. विकारकारणम्, तद्यथा अग्न्यादयः पाक्यादीनाम्। ६. विश्लेषकारणम्, तद्यथा दात्रादयश्छेद्यादीनाम्। ७. परिणतिकारणम्, तद्यथा सुवर्णकारादयः सुवर्णादीनां कटकादिभावेन परिणतौ। ८. सम्प्रत्ययकारणम्, तद्यथा धूमादयोऽग्न्यादीनाम्। ९. सम्प्रत्यायनकारणम्, तद्यथा हेतुः प्रतिज्ञायाः। १०. प्राप्तिकारणं तद्यथा मार्गादयो निर्वाणादीनाम्।

एवमुत्पत्त्यावरणं शुभे द्रष्टव्यम्; तस्योत्पादनीयत्वात्। स्थित्यावरणम्; बोधौ तस्या अकोप्यत्वात्। धृत्यावरणं समादाने बोधिचित्तस्याधारभूतत्वात्। अभिव्यक्त्यावरणं धीमत्त्वे तस्य प्रकाशनीयत्वात्। विकारावरणम्; अभ्रान्तौ तस्या भ्रान्तिपरिवृत्तित्वेन विकारत्वात्। विश्लेषावरणम्; अनावरणे तस्यावरणविसंयोगत्वात्। परिणत्यावरणम्; नतौ तस्या बोधौ चित्तपरिणतिलक्षणत्वात्। सम्प्रत्ययावरणम्; अत्रासेऽसम्प्रत्ययेन पसनात्। सम्प्रत्यायनावरणम्; अमत्सरित्वे धर्मामत्सरित्वेन परसम्प्रत्यायनात्। प्राप्त्यावरणम्; वशित्वे तस्य विभुत्वप्राप्तिलक्षणत्वात्॥

कारणं दशधोत्पत्तौ स्थितौ धृत्यां प्रकाशने।
विकारविश्लेषनतिप्रत्ययप्रापणाप्तिषु॥
चक्षुराहारभूदीपवह्न्याद्यादिस्तदुदाहृतिः।
दात्रशिल्पज्ञताधूमहेतुमार्गादयोऽपरे॥

बोधिं प्राप्तुकामेनादित एव तावत् कुशलमूलमुत्पादयितव्यम्। ततः कुशलमूलबलाधानेन बोधिः प्राप्तव्या। तस्याः पुनः कुशलमूलोत्पत्तेर्बोधिचित्तं

प्रतिष्ठा। तस्य बोधिचित्तस्य बोधिसत्त्व आश्रयः। तेन पुनरुत्पादितबोधिचित्तेन कुशलमूलबलाधानं प्राप्तेन बोधिसत्त्वेन विपर्यासं प्रहाय अविपर्यास उत्पादयितव्यः। ततो दर्शनमार्गे अविपर्यस्ते भावनामार्गे सर्वावरणानि प्रहातव्यानि। प्रहीणावरणेन पुनः सर्वाणि कुशलमूलानि अनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ परिणामयितव्यानि। ततः परिणामनाबलाधानेन गम्भीरोदारधर्मदेशनासु नोत्त्रसितव्यम्। तथानुत्त्रस्तमानसेन धर्मेषु गुणदर्शिना परेषां ते धर्मा विस्तरेण सम्प्रकाशयितव्याः। ततः स बोधिसत्त्व एव विविधगुणबलाधानप्राप्तः क्षिप्रमनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमनुप्राप्तत्वात् सर्वधर्ममत्सरित्वेन वशितामनुप्राप्नोतीत्येषोऽनुक्रमः शुभादीनाम्॥

४. तत्त्वप्रवेशाद्यावरणम्

पक्ष्यपारमिताभूमिष्वन्यदावरणं पुनः॥ १०॥

(क) बोधिपक्ष्येषु तावत्[1]—

वस्त्वकौशलकौसीद्यसमाधिद्वयहीनताः।
अरोपणञ्च दौर्बल्यं दृष्टिदौष्ठुल्यदूषणम्॥ ११॥

स्मृत्युपस्थानेषु वस्त्वकौशलमावरणम्। सम्यक्प्रहाणेषु कौसीद्यम्। ऋद्धिपादेषु समाधेर्द्वयहीनता अपारिपूर्या छन्दवीर्यचित्तमीमांसानामन्यतमवैकल्यात्, भावनया च प्रहाणसंस्कारवैकल्यात्। इन्द्रियेषु मोक्षभागीयानामरोपणम्। बलेषु तेषामेवेन्द्रियाणां दौर्बल्यं विपक्षव्यवकिरणात्। बोध्यङ्गेषु दृष्टिदोषः; तेषां दर्शनमार्गप्रभावितत्वात्। मार्गाङ्गेषु दौष्ठुल्यदोषः; तेषां भावनामार्गप्रभावितत्वात्॥ ११॥

(ख) पारमितास्वावरणम्

ऐश्वर्यस्याथ सुगतेः सत्त्वात्यागस्य चावृतिः।
हानिवृद्ध्योश्च दोषाणां गुणानामवतारणे॥ १२॥
विमोचनेऽक्षयत्वे च नैरन्तर्ये शुभस्य च।
नियतीकरणे धर्मसम्भोगपरिपाचने॥ १३॥

अत्र दशानां पारमितानां यस्याः पारमिताया यत्फलं तदावरणेन तस्या आवरणमुद्भावितं भवति। तत्र १. दानपारमिताया ऐश्वर्याधिपत्यावरणमावरणम्। २. शीलपारमितायाः सुगत्यावरणम्। ३. क्षान्तिपारमितायाः सत्त्वापरित्यागावरणम्। ४. वीर्यपारमिताया दोषगुणहानिवृद्ध्यावरणम्। ५. ध्यानपारमितायाः विनेयावतारणावरणम्। ६. प्रज्ञापारमिताया विमो-

---

१. आवरणमिति शेषः।

चनावरणम्। ७. उपायकौशल्यपारमिताया दानाद्यक्षयत्वावरणम्, बोधिपरिणामनया तदक्षयत्वात्। ८. प्रणिधानपारमितायाः सर्वजन्मसु कुशलनैरन्तर्यप्रवृत्त्यावरणम्, प्रणिधानवशेन तदनुकूलोपपत्तिपरिग्रहात्। ९. बलपारमितायाः तस्यैव कुशलस्य नियतीकरणावरणं प्रतिसंख्यानभावनाबलाभ्यां विपक्षानभिभवात्। १०. ज्ञानपारमितायाः आत्मपरयोर्धर्मसम्भोगपरिपाचनावरणमयथारुतं श्रुतार्थाविबोधात्॥ १२-१३॥

(ग) भूमिषु[1] पुनर्यथाक्रमम्—

सर्वत्रगार्थे अग्रार्थे निष्यन्दाग्रार्थ एव च।
निष्परिग्रहतार्थे वा सन्तानाभेद एव वा॥ १४॥
निःसंक्लेशविशुद्धयर्थेऽनानात्वर्थ एव च।
अहीनानधिकार्थे च चतुर्धा वशिताश्रये॥ १५॥
धर्मधातावविद्येयं ह्यक्लिष्टा दशधावृतिः।
दशभूमिविपक्षेण प्रतिपक्षास्तु भूमयः॥ १६॥

धर्मधातौ दशविधे सर्वत्रगाद्यर्थे यदक्लिष्टमज्ञानं तद्दशसु बोधिभूमिष्वावरणं यथाक्रमं तद्विपक्षत्वात्। यदुत सर्वत्रगार्थे प्रथमया हि भूम्या धर्मधातोः सर्वत्रगार्थं प्रतिविध्यति येनात्मपरसमतां प्रतिलभते। द्वितीययाग्रार्थं येनास्यैवं भवति—तस्मात्तर्ह्यस्माभिः समानेऽभिनिर्हारे सर्वाकारपरिशोधनाभिनिर्हार एव योगः करणीय इति। तृतीयया तन्निष्यन्दाग्रार्थम्, येन धर्मधातुनिष्यन्दस्य श्रुतस्याग्रतां विदित्वा तदर्थं त्रिसाहस्रमहासाहस्रप्रमाणायामप्यग्निखदायामात्मानं प्रक्षिपेत्। चतुर्थ्या निष्परिग्रहतार्थम्, तथा हि धर्मतृष्णापि व्यावर्तते। पञ्चम्या सन्तानाभेदार्थं दशभिश्चित्ताशयविशुद्धिसमताभिः। षष्ठ्या निःसंक्लेशविशुद्धयर्थं प्रतीत्यसमुत्पादे नास्ति स कश्चिद्धर्मो यः संक्लिश्यते वा विशुध्यते वेति प्रतिवेधात्। सप्तम्या अनानात्वार्थं निर्निमित्ततया सूत्रादिधर्मनिमित्तनानात्वासमुदाचारात्। अष्टम्या अहीनानधिकार्थमनुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिलाभात् संक्लेशे व्यवदाने वा कस्यचिद् धर्मस्य हानिवृद्धयदर्शनात्। चतुर्धा वशिता—निर्विकल्पवशिता, क्षेत्रपरिशुद्धिवशिता, ज्ञानवशिता, कर्मवशिता च। तत्र प्रथमद्वितीयवशिताश्रयत्वं धर्मधातावष्टम्यैव भूम्या प्रतिविध्यति। ज्ञानवशिताश्रयत्वं नवम्यां प्रतिसंविल्लाभात्। कर्मवशिताश्रयत्वं दशम्यां यथेच्छं निर्माणैः सत्त्वार्थकरणत्वम्॥ १४-१६॥

---

१. आवरणमिति शेषः।

५. संग्रहावरणम्

समासेन पुनः—

क्लेशावरणमाख्यातं ज्ञेयावरणमेव च ।
सर्वाण्यावरणानीह यत्क्षयान्मुक्तिरिष्यते ॥ १७ ॥

अस्य हि द्विविधस्यावरणस्य क्षयात् सर्वावरणेभ्यो मुक्तिरिष्यते ॥ १७ ॥

६. आवरणपिण्डार्थः

आवरणानां पिण्डार्थः । महदावरणं यद्वचापि । प्रतन्वावरणं यत् प्रादेशिकम् । प्रयोगावरणं यदुद्रिक्तम् । प्राप्त्यावरणं यत्समम् । प्राप्तिविशेषावरणं यदादानविवर्जने । सम्यक्प्रयोगावरणं यन्नवधा क्लेशावरणम् । हेत्वावरणं यच्छुभादौ; दशविधहेत्वधिकारात् । तत्त्वप्रवेशावरणं यद् बोधिपक्ष्येषु । शुभानुत्तर्यावरणं यत् पारमितासु । तद्विशेषगत्यावरणं यद् भूमिषु । संग्रहावरणं यत् समासतो द्विविधम् ॥

इति मध्यान्तविभागशास्त्रभाष्ये आवरणपरिच्छेदो द्वितीयः

●

तत्त्वपरिच्छेदस्तृतीयः

दशविधं तत्त्वम्

तत्त्वमधिकृत्याह—

मूललक्षणतत्त्वाभ्यामविपर्यासलक्षणम् ।
फलहेतुमयं तत्त्वं सूक्ष्मौदारिकमेव च ॥ १ ॥
प्रसिद्धं शुद्धिविषयं संग्रहो भेदलक्षणम् ।
कौशल्यतत्त्वं दशधा ह्यात्मदृष्टिविपक्षतः ॥ २ ॥ इति ।

एतद्दशविधं तत्त्वम्, यदुत—मूलतत्त्वम्, लक्षणतत्त्वम्, अविपर्यासतत्त्वम्, फलहेतुतत्त्वम्, औदारिकसूक्ष्मतत्त्वम्, प्रसिद्धतत्त्वम्, विशुद्धिगोचरतत्त्वम्, संग्रहतत्त्वम्, प्रभेदतत्त्वम्, कौशल्यतत्त्वं च । तत्पुनर्दशविधं दशविधात्मग्राहप्रतिपक्षेण वेदितव्यम् । तद्यथा-स्कन्धकौशल्यं धातुकौशल्यमायतनकौशल्यं प्रतीत्यसमुत्पादकौशल्यं स्थानास्थानकौशल्यम्, इन्द्रियकौशल्यम्, अध्वकौशल्यं सत्यकौशल्यं यानकौशल्यं संस्कृतकौशल्यं च ॥

१. तत्र मूलतत्त्वम्—

स्वभावस्त्रिविधः,

परिकल्पितः, परतन्त्रः, परिनिष्पन्नश्च; तत्रान्यतत्त्वव्यवस्थापनात् ॥

किमत्र स्वभावत्रये तत्त्वमिष्यते ?

असच्च नित्यं सच्चाप्यसत्त्वतः ।
सदसत्तत्त्वतश्चेति स्वभावत्रयमिष्यते ॥ ३ ॥

परिकल्पितलक्षणं नित्यमसदित्येतत् परिकल्पितस्वभावे तत्त्वमविपरीतत्वात् । परतन्त्रलक्षणं सच्च न च तत्त्वतः, भ्रान्तत्वादित्येतत्परतन्त्रस्वभावे तत्त्वम् । परिनिष्पन्नलक्षणं सदसत्तत्त्वतश्चेत्येतत् परिनिष्पन्नस्वभावे तत्त्वम् ॥ ३ ॥

२. लक्षणतत्त्वं कतमत् ?

समारोपापवादस्य धर्मपुद्गलयोरिह ।
ग्राह्यग्राहकयोश्चापि भावाभावे च दर्शनम् ॥ ४ ॥
यज्ज्ञानान्न प्रवर्तेत तद्धि तत्त्वस्य लक्षणम् ।

पुद्गलधर्मयोः समारोपापवादर्शनं यस्य ज्ञानान्न प्रवर्तते तत्परिकल्पितस्वभावे तत्त्वलक्षणम् । ग्राह्यग्राहकयोः समारोपापवाददर्शनं यस्य ज्ञानान्न प्रवर्तते तत्परतन्त्रस्वभावे तत्त्वलक्षणम् । भावाभावे समारोपापवाददर्शनं यस्य ज्ञानान्न प्रवर्तते तत्परिनिष्पन्नस्वभावे तत्त्वलक्षणम् । एतन्मूलतत्त्वे लक्षणमविपरीतं लक्षणतत्त्वमित्युच्यते ॥

३. अविपर्यासतत्त्वं नित्यादिविपर्यासप्रतिपक्षेणानित्यदुःखशून्यानात्मता मूलतत्त्वे यथाक्रमम् । कथं च तत्रानित्यतादिता वेदितव्या ?

असदर्थो ह्यनित्यार्थो उत्पादव्ययलक्षणः ॥ ५ ॥
समलामलभावेन मूलतत्त्वे यथाक्रमम् ।

त्रयो हि स्वभावा मूलतत्त्वम् । तेषु यथाक्रमम्—असदर्थो ह्यनित्यत्वार्थः, उत्पादव्ययार्थः, समलामलभावश्च ॥

दुःखमादानलक्ष्माख्यं सम्बन्धेनापरं मतम् ॥ ६ ॥

मूलतत्त्वे यथाक्रमं दुःखमुपादानतः पुद्गलधर्माभिनिवेशोपादानात्, लक्षणतस्त्रिदुःखतालक्षणत्वात्, सम्बन्धतश्च दुःखसम्बन्धात्, तत्रैव मूलतत्त्वे यथाक्रमं वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

अभावश्चाप्यतद्भावः प्रकृतिः शून्यता मता ।

परिकल्पितलक्षणं न केनचित् प्रकारेणास्तीत्यभाव एवास्य शून्यता । परतन्त्रलक्षणं तथा नास्ति यथा परिकल्प्यते, न तु सर्वथा नास्तीति तस्या-

तद्भावः शून्यता। परिनिष्पन्नलक्षणं शून्यतास्वभावमेवेति प्रकृतिरेवास्य शून्यता॥

अलक्षणञ्च नैरात्म्यं तद्विलक्षणमेव च॥ ७॥
स्वलक्षणञ्च निर्दिष्टम्,

परिकल्पितस्य स्वभावस्य लक्षणमेव नास्तीत्यलक्षणमेवास्य नैरात्म्यम्। परतन्त्रस्यास्ति लक्षणं न तु यथा परिकल्प्यत इति तद्विलक्षणमस्य लक्षणं नैरात्म्यम्। परिनिष्पन्नस्तु स्वभावतो नैरात्म्यमेवेति प्रकृतिरेवास्य नैरात्म्यमिति। त्रिविधे मूलतत्त्वे त्रिविधा अनित्यता परिदीपिता—असदर्थानित्यता, उत्पादभङ्गनित्यता, समलनिर्मलानित्यता च। त्रिविधा दुःखता—उपादानदुःखता, लक्षणदुःखता, सम्बन्धदुःखता च। त्रिविधा शून्यता—अभावशून्यता, अतद्भावशून्यता, प्रकृतिशून्यता च। त्रिविधं नैरात्म्यम्—अलक्षणनैरात्म्यम्, विलक्षणनैरात्म्यम्, स्वलक्षणनैरात्म्यं च॥

४. **फलहेतुमयं तत्त्वं** तत्रैव मूलतत्त्वे दुःखसमुदयनिरोधमार्गसत्यत्वम्। कथं त्रिविधं मूलतत्त्वं दुःखादिसत्यम्? यतस्तदनित्यादिलक्षणम्,

दुःखसत्यमतो मतम्।

त्रिविधेन समुदयार्थेन समुदयसत्यम्। त्रिविधः समुदयार्थः—

वासनाऽथ समुत्थानमविसंयोग एव च॥ ८॥

वासनासमुदयः परिकल्पितस्वभावाभिनिवेशवासना। समुत्थानसमुदयः कर्मक्लेशाः। अविसंयोगसमुदयः तथतायाः आवरणाविसंयोगः॥ ८॥

त्रिविधेन निरोधेन निरोधसत्यम्। त्रिविधो निरोधः—

स्वभावद्वयनोत्पत्तिर्मलशान्तिद्वयं मतम्।

स्वभावानुत्पत्तिर्ग्राह्यग्राहकयोरनुत्पत्तिर्मलशान्तिद्वयं च प्रतिसंख्यानिरोधस्तथता च। इत्येष त्रिविधो निरोधो यदुत स्वभावनिरोधः, द्वयनिरोधः, प्रकृतिनिरोधश्च॥

मार्गसत्यं त्रिविधे मूलतत्त्वे कथं व्यवस्थाप्यते?

परिज्ञायां प्रहाणे च प्राप्तिसाक्षात्कृतावपि॥ ९॥
मार्गसत्यं समाख्यातम्,

परिकल्पितस्य परिज्ञाने, परतन्त्रस्य परिज्ञाने प्रहाणे च, परिनिष्पन्नस्य परिज्ञाने प्राप्तिसाक्षात्करणे च। एवमत्र परिज्ञानप्रहाणसाक्षात्क्रियायां मार्गसत्यव्यवस्थानं त्रिविधं वेदितव्यम्॥

५. **औदारिकसूक्ष्मतत्त्वं** पुनः संवृतिपरमार्थसत्यम्। तन्मूलतत्त्वे कथं वेदितव्यम्?

प्रज्ञप्तिप्रतिपत्तितः ।

तथोद्भावनयोदारम्;

त्रिविधा हि संवृतिः—प्रज्ञप्तिसंवृतिः, प्रतिपत्तिसंवृतिः, उद्भावनासंवृतिश्च । तथा संवृतिसत्यत्वं मूलतत्त्वे यथाक्रमं वेदितव्यम् ॥

परमार्थन्तु एकतः ॥ १० ॥

परमार्थसत्यमेकस्मात् परिनिष्पन्नादेव स्वभावाद् वेदितव्यम् ॥ १० ॥

स पुनः कथं परमार्थः ?

अर्थप्राप्तिप्रपत्त्या हि परमार्थस्त्रिधा मतः ।

अर्थपरमार्थस्तथता परमस्य ज्ञानस्यार्थ इति कृत्वा । २. प्राप्तिपरमार्थो निर्वाणं परमोऽर्थ इति कृत्वा । ३. प्रतिपत्तिपरमार्थो मार्गः परमोऽस्यार्थ इति कृत्वा ॥

कथमसंस्कृतं च संस्कृतं च परिनिष्पन्नः स्वभाव उच्यते ?

निर्विकाराविपर्यासपरिनिष्पत्तितो द्वयम् ॥ ११ ॥

१. असंस्कृतमविकारपरिनिष्पत्या परिनिष्पन्नम् । २. संस्कृतं मार्गसत्यसंगृहीतमविपर्यासपरिनिष्पत्त्या पुनर्ज्ञेयवस्तुन्यविपर्यासात् ॥ ११ ॥

६. प्रसिद्धतत्त्वं मूलतत्त्वे कथं व्यवस्थाप्यते ?

द्विविधं हि प्रसिद्धतत्त्वम् – लोकप्रसिद्धम्, युक्तिप्रसिद्धं च । तत्र--

लोकप्रसिद्धमेकस्मात्;

परिकल्पितस्वभावात् । यस्मिन् वस्तुनि संकेतसंस्तवानुप्रविष्टया बुद्धया सर्वेषां लौकिकानां दर्शनतुल्यता भवति—पृथिव्येवेयं नाग्निः, रूपमेवेदं न शब्द इत्येवमादि ॥

त्रयाद् युक्तिप्रसिद्धकम् ।

यत् सतां युक्तार्थपण्डितानां तार्किकाणां प्रमाणत्रयं निःश्रित्योपपत्तिसाधनयुक्त्या प्रसिद्धं वस्तु ॥

७. विशुद्धिगोचरतत्त्वं द्विविधम्--१. क्लेशावरणविशुद्धिज्ञानगोचरम्, २. ज्ञेयावरणविशुद्धिज्ञानगोचरं च । तदेतत्—

विशुद्धगोचरं द्वेधा, एकस्मादेव कीर्तितम् ॥ १२ ॥

परिनिष्पन्नादेव स्वभावात् । न ह्यन्यस्वभावो विशुद्धिज्ञानद्वयगोचरो भवति ॥

८. कथं त्रिविधे मूलतत्त्वे **संग्रहतत्त्वं वेदितव्यम् ?**

निमित्तस्य विकल्पस्य नाम्नश्च द्वयसङ्ग्रहः ।

यथायोगं पञ्च वस्तून्यारभ्य। निमित्तविकल्पयोः परतन्त्रेण संग्रहः। नाम्नः परिकल्पितेन ॥

सम्यग्ज्ञानसतत्त्वस्य एकेनैव च सङ्ग्रहः ॥ १३ ॥

तथता-सम्यग्ज्ञानयोः परिनिष्पन्नेन स्वभावेन संग्रहः ॥ १३ ॥

९. **प्रभेदतत्त्वं** मूलतत्त्वे कथं वेदितव्यम्? सप्तविधं प्रभेदतत्त्वम्—प्रवृत्तितत्त्वं लक्षणतत्त्वं विज्ञप्तितत्त्वं सन्निवेशतत्त्वं मिथ्याप्रतिपत्तितत्त्वं विशुद्धितत्त्वं सम्यक्प्रतिपत्तितत्त्वं च। तत्र प्रवृत्तितत्त्वादि त्रिविधम्-अनवराग्रो जातिसंसारः, तथता, चित्तसंक्लेशात् सत्त्वाः संक्लिश्यन्त इति सर्वं दुःखादिसत्यं च यथासंख्यम्। यैव च **सन्धिनिर्मोचनसूत्रे** सप्तविधा तथता निर्दिष्टा। तत्र—

प्रवृत्तितत्त्वं द्विविधम्;

मूलतत्त्वं वेदितव्यम् परिकल्पितपरतन्त्रलक्षणम्। यथा प्रवृत्तितत्त्वं तथा—

सन्निवेशः कुपन्नता।

सन्निवेश-मिथ्याप्रतिपत्तितत्त्वे अपि द्विविधं मूलतत्त्वम्।

एकं लक्षणविज्ञप्तिशुद्धिसम्यक्प्रपन्नता ॥ १४ ॥

लक्षणतत्त्वादीनि चत्वारि, एकं मूलतत्त्वं परिनिष्पन्नलक्षणम् ॥ १४ ॥

१०. **कौशल्यतत्त्वं** दर्शनप्रतिपक्षेणेत्युक्तम्।

कथमेषु स्कन्धादिषु दशविधमात्मदर्शनम्?

एक-हेतुत्व-भोक्तृत्व-कर्तृत्व-वशवर्तने।
आधिपत्यार्थ-नित्यत्वे क्लेशशुद्धयाश्रयेऽपि च ॥ १५ ॥
योगित्वामुक्तमुक्तत्वे आत्मदर्शनमेषु हि।

एष दशविध आत्मासद्ग्राहः स्कन्धादिषु प्रवर्तते, यस्य प्रतिपक्षेण दशविधं कौशल्यम्; यदुतैकत्वग्राहः हेतुत्वग्राहः भोक्तृत्वग्राहः कर्तृत्वग्राहः स्वतन्त्रत्वग्राहश्च। अधिपतित्वग्राहः नित्यत्वग्राहः संक्लिष्टव्यवदानत्वग्राहः योगित्वग्राहोऽमुक्तमुक्तत्वग्राहश्च।

कथमिदं दशविधं कौशल्यतत्त्वं मूलतत्त्वेऽन्तर्भवति? यतस्त्रिषु स्वभावेषु ते स्कन्धादयः अन्तर्भूताः ॥ १५ ॥

कथमन्तर्भूताः?

परिकल्प-विकल्पार्थ-धर्मतार्थेन तेषु ते ॥ १६ ॥

त्रिविधं रूपम्—१. परिकल्पितं रूपं यो रूपस्य परिकल्पितः स्वभावः। २. विकल्पितं रूपं यो रूपस्य परतन्त्रः स्वभावः, तत्र हि रूपविकल्पः क्रियते।

३. धर्मतारूपं यो रूपस्य परिनिष्पन्नः स्वभावः। यथा रूपमेवं वेदनादयः, स्कन्धाः, धात्वायतनादयश्च योज्याः। एवं त्रिषु स्वभावेषु स्कन्धादीनामन्तर्भावाद्दशविधं कौशल्यतत्त्वं मूलतत्त्व एव द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

उक्तमिदं यथा दशविधात्मदर्शनप्रतिपक्षेण स्कन्धादिकौशल्यम् ॥

(क) स्कन्धार्थः

स्कन्धाद्यर्थस्तु नोक्तः ? स इदानीमुच्यते—

अनेकत्वाभिसंक्षेपपरिच्छेदार्थ आदितः।

आदितस्तावत् स्कन्धाः। ते त्रिविधेनार्थेन वेदितव्याः—१. अनेकत्वार्थेन, यत्किञ्चिद्रूपमतीतानागतप्रत्युत्पन्नमिति विस्तरः। २. अभिसंक्षेपार्थेन, तत्सर्वमैकध्यमभिसंक्षिप्येति। ३. परिच्छेदार्थेन च, रूपादिलक्षणस्य पृथक्त्वव्यवस्थानात्।

राश्यर्थो हि स्कन्धार्थः। एवं च लोके राश्यर्थो दृष्ट इति ॥

(ख) धात्वर्थः

ग्राहकग्राह्यतद्ग्राहबीजार्थश्चापरो मतः ॥ १७ ॥

कतमोऽपरः ? धातुः। तत्र ग्राहकबीजार्थश्चक्षुर्धात्वादयः। ग्राह्यबीजार्थो रूपधात्वादयः। तद्ग्राहबीजार्थश्चक्षुर्विज्ञानधात्वादयः ॥ १७ ॥

(ग) आयतनार्थः

वेदितार्थपरिच्छेदभोगायद्वारतोऽपरम् ।

किमपरम् ? आयतनम्। तत्र वेदितोपभोगायद्वारार्थेन षडाध्यात्मिकान्यायतनानि। अर्थपरिच्छेदोपभोगायद्वारार्थेन षड् बाह्यानि ॥

(घ) प्रतीत्यसमुत्पादार्थः

प्रतीत्यसमुत्पादार्थः—

पुनर्हेतुफलायासानारोपानपवादतः ॥ १८ ॥

हेतुफलक्रियाणामसमारोपानपवादार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। १. तत्र हेतुसमारोपः संस्कारादीनां विषमहेतुकल्पनात्। हेत्वपवादो निर्हेतुकत्वकल्पनात्। २. फलसमारोपः सात्मकानां संस्कारादीनामविद्यादिप्रत्ययप्रवृत्तिकल्पनात्। फलापवादः 'न सन्त्यविद्यादिप्रत्ययाः संस्कारादयः' इति कल्पनात्। ३. क्रियासमारोपोऽविद्यादीनां संस्काराद्युत्पत्तौ व्यापारकल्पनात्। क्रियापवादो निःसामर्थ्यकल्पनात्। तदभावादसमारोपानपवादो वेदितव्यः ॥ १८ ॥

(ङ) स्थानास्थानार्थः

अनिष्टेष्टविशुद्धीनां समोत्पत्त्याधिपत्ययोः।
सम्प्राप्तिसमुदाचारपारतन्त्र्यार्थतोऽपरम् ॥ १९ ॥

स्थानास्थानं सप्तविधपारतन्त्र्यार्थेन वेदितव्यम्। तत्र १. अनिष्टे पारतन्त्र्यं दुश्चरितेनानिच्छतोऽपि दुर्गतिगमनात्। १. इष्टे पारतन्त्र्यं सुचरितेन सुगतिगमनात्। ३. विशुद्धौ पारतन्त्र्यं पञ्च नीवरणान्यप्रहाय यावत् सप्त बोध्यङ्गान्यभावयित्वा दुःखस्यान्ताकरणात्। ४. समोत्पत्तौ पारतन्त्र्यं द्वयोरपूर्वाचरमयोस्तथागतयोश्चक्रवर्तिनोश्चैकस्मिन् लोकधाताव-नुत्पादात्। ५. आधिपत्ये पारतन्त्र्यं स्त्रियाश्चक्रवर्त्तित्वाद्यकरणात्। ६. सम्प्राप्तौ पारतन्त्र्यं स्त्रियाः प्रत्येकानुत्तरबोध्यनभिसम्बोधात्। ७. समुदा-चारे पारतन्त्र्यं दृष्टिसम्पन्नस्य वधाद्युपक्रमासमुदाचारात्, पृथग्जनस्य च समुदाचारात्।

विस्तरेण बहुधातुकसूत्रानुसारादनुगन्तव्यम्॥ १९॥

(च) इन्द्रियार्थः

इन्द्रियं पुनर्द्वाविंशतिविधम्—

ग्रहण-स्थान-सन्धान-भोग-शुद्धिद्वयार्थतः ।

ग्रहणार्थेन यावद् विशुद्धिद्वयार्थेन; तेषु तदाधिपत्यात्। रूपादिविषयग्रहणे हि चक्षुरादीनां षण्णामाधिपत्यम्। स्थाने जीवितेन्द्रियस्य तदाधिपत्येना-मरणात्। कुलसन्धाने स्त्रीपुरुषेन्द्रिययोरपत्यप्रसवाधिपत्यात्। उपभोगे वेदनेन्द्रियाणां कुशलाकुशलकर्मफलोपभोगात्। लौकिकविशुद्धौ श्रद्धादीनां लोकोत्तरविशुद्धौ अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रियादीनाम्।

(छ) अध्वार्थः

फलहेतूपयोगाच्च नोपयोगात् तथाऽपरम् ॥ २० ॥

किमपरम्? अध्वत्रयम्। यथायोगं फलहेतूपयोगार्थेनातीतोऽध्वा, फल-हेत्वनुपयोगार्थेनानागतोऽध्वा, हेतूपयोगफलानुपयोगार्थेन प्रत्युत्पन्नोऽध्वा वेदितव्यः॥ २०॥

(ज) चतुःसत्यार्थः

वेदनासनिमित्तार्थतन्निमित्तप्रपत्तितः ।
तच्छमप्रतिपक्षार्थयोगादपरमिष्यते ॥२१॥

किमपरम्? सत्यचतुष्टयम्। तत्र—१. दुःखसत्यं वेदनासनिमित्तार्थेन यत्किञ्चिद्वेदितमिदमत्र दुःखस्येति कृत्वा। वेदनानिमित्तं पुनर्वेदनीया धर्मा

वेदितव्याः । २. तन्निमित्तप्रतिपत्तितः समुदयसत्यम् । दुःखसत्यं या प्रतिपत्तिः । ३. तयोः शमार्थेन निरोधसत्यम् । प्रतिपक्षार्थेन मार्गसत्यम् ॥ २१ ॥

(झ) यानत्रयार्थः

गुणदोषाविकल्पेन ज्ञानेन परतः स्वयम् ।
निर्याणादपरं ज्ञेयम्,

यानत्रयं यथायोगम् । तत्र १. निर्वाणसंसारयोर्गुणदोषज्ञानेन परतः श्रुत्वा निर्याणार्थेन श्रावकयानम् । २. तेनैव स्वयमश्रुत्वा परतो निर्याणार्थेन प्रत्येकबुद्धयानम् । ३. अविकल्पेन ज्ञानेन स्वयं निर्याणार्थेन महायानं वेदितव्यम् ॥

(ञ) संस्कृतासंस्कृतार्थः

सप्रज्ञप्तिसहेतुकात् ॥ २२ ॥
निमित्तात् प्रशमात् सार्थात् पश्चिमं समुदाहृतम् ॥ २३ ॥

संस्कृतासंस्कृतम् । तत्र प्रज्ञप्तिर्नामकायादयः । हेतुर्बीजसंगृहीतमालयविज्ञानम् । निमित्तं प्रतिष्ठादेहभोगसंगृहीताश्च मनउद्ग्रहविकल्पाः । एतत् सप्रज्ञप्तिसहेतुकं निमित्तं ससम्प्रयोगं **संस्कृतं** वेदितव्यम् । तत्र मनो यन्नित्यं मन्यनाकारम् । उद्ग्रहः पञ्चविज्ञानकायाः । विकल्पो मनोविज्ञानम्; तस्य विकल्पकत्वात् । **असंस्कृतं** पुनः प्रशमश्च निरोधः, प्रशमार्थश्च । तत्र प्रशमो निरोधो मार्गश्च यः प्रशमो येन चेति कृत्वा । प्रशमार्थस्तथता प्रशमस्यार्थ इति कृत्वा; तथताया मार्गालम्बनत्वात् । मार्गस्य प्रशमत्वं तेन प्रशमनात् । इत्येतेनार्थेन स्कन्धादिकौशल्यं वेदितव्यम् ॥ २२-२३ ॥

तत्त्वपिण्डार्थः

तत्त्वस्य पिण्डार्थः । समासतो द्विविधं तत्त्वम्—आदर्शतत्त्वं दृश्यतत्त्वं च । तत्रादर्शतत्त्वं मूलतत्त्वम्; तत्र शेषाणां दर्शनात् । दृश्यतत्त्वं नवधा— १. निरभिमानदृश्यतत्त्वम्, २. विपर्यासदृश्यतत्त्वम्, ३. श्रावकयाननिर्याणदृश्यतत्त्वम्, ४. महायाननिर्याणदृश्यतत्त्वम्, औदारिकेन परिपाचनात् सूक्ष्मेण च विमोचनात्; ५. परवादिनिग्रहदृश्यतत्त्वं दृष्टान्तसन्निश्रयेण युक्त्या निग्रहात्; ६. महायानाभिद्योतनदृश्यतत्त्वम्; ७. सर्वाकारज्ञेयप्रवेशदृश्यतत्त्वम्; ८. अवितथतथताभिद्योतनदृश्यतत्त्वम्; ९. आत्मग्राहवस्तुसर्वाभिसन्धिप्रवेशदृश्यतत्त्वं च ॥

॥ मध्यान्तविभागशास्त्रभाष्ये तत्त्वपरिच्छेदस्तृतीयः ॥



प्रतिपक्षभावनावस्थाफलपरिच्छेदश्चतुर्थः

१. प्रतिपक्षभावना

प्रतिपक्षभावना बोधिपक्ष्यभावना । सेदानीं वक्तव्या ।

(क) चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि

तत्र तावदादौ—

दौष्ठुल्यात्तर्षहेतुत्वाद् वस्तुत्वादविमोहतः ।
चतुःसत्यावताराय स्मृत्युपस्थानभावना ॥ १ ॥

१. कायेन हि दौष्ठुल्यं प्रभाव्यते । तत्परीक्षया दुःखसत्यमवतरति, तस्य सदौष्ठुल्यसंस्कारलक्षणत्वात् । दौष्ठुल्यं हि संस्कारदुःखता, तया सर्वं सास्रवं वस्त्वार्या दुःखतः पश्यन्तीति । २. तृष्णाहेतुर्वेदना, तत्परीक्षया समुदयसत्यमवतरति । ३. आत्माभिनिवेशवस्तु चित्तम्, तत्परीक्षया निरोधसत्यमवतरति; आत्मोच्छेदभयापगमात् । ४. धर्मपरीक्षया सांक्लेशिकवैयवदानिकधर्मासम्मोहान्मार्गसत्यमवतरति । अत आदौ चतुःसत्यावताराय स्मृत्युपस्थानभावना व्यवस्थाप्यते ॥ १ ॥

(ख) चत्वारि सम्यक्प्रहाणानि

ततः सम्यक्प्रहाणभावना । यस्मात्—

परिज्ञाते विपक्षे च प्रतिपक्षे च सर्वथा ।
तदपायाय वीर्यं हि चतुर्धा सम्प्रवर्तते ॥ २ ॥

स्मृत्युपस्थानभावनया विपक्षे प्रतिपक्षे च सर्वप्रकारं परिज्ञाते विपक्षापगमाय प्रतिपक्षोपगमाय च वीर्यं चतुर्धा सम्प्रवर्तते । उत्पन्नानां पापकानामकुशलानां धर्माणां प्रहाणायेति विस्तरः ॥ २ ॥

(ग) चत्वार ऋद्धिपादाः

कर्मण्यता स्थितेस्तत्र सर्वार्थानां समृद्धये ।
पञ्चदोषप्रहाणाऽष्टसंस्कारासेवनान्वया ॥ ३ ॥

तस्यां तदपायाय वीर्यभावनायां चित्तस्थितेः कर्मण्यता चत्वार ऋद्धिपादाः; सर्वार्थसमृद्धिहेतुत्वात् । स्थितिरत्र चित्तस्थितिः समाधिर्वेदितव्यः । अतः सम्यक्प्रहाणानन्तरमृद्धिपादाः । सा पुनः कर्मण्यता पञ्चदोषप्रहाणायाष्टसंस्कारभावनान्वया वेदितव्या ॥ ३ ॥

कतमे पञ्च दोषाः ? इत्याह—

कौसीद्यमववादस्य सम्मोषो लय उद्धवः ।
असंस्कारोऽथ संस्कारः पञ्च दोषा इमे मताः ॥ ४ ॥

तत्र लयौद्धत्यमेको दोषः क्रियते । अनभिसंस्कारो लयौद्धत्यप्रशमनकाले दोषः । अभिसंस्कारः प्रशान्तौ ॥ ४ ॥

एषां प्रहाणाय कथमष्टौ प्रहाणसंस्कारा व्यवस्थाप्यन्ते ?

(क) चत्वारः कौसीद्यप्रहाणाय च्छन्दव्यायाम श्रद्धाप्रस्रब्धयः । ते पुनर्यथाक्रमं वेदितव्याः—

आश्रयोऽथाश्रितस्तस्य निमित्तं फलमेव च ।

आश्रयश्छन्दो व्यायामस्य । आश्रितो व्यायामः । तस्याश्रयस्य च्छन्दस्य निमित्तं श्रद्धा; सम्प्रत्यये सत्यभिलाषात् । तस्याश्रितस्य व्यायामस्य फलं प्रस्रब्धिः; आरब्धवीर्यस्य समाधिविशेषाधिगमात् ।

(ख) शेषाश्चत्वारः प्रहाणसंस्काराः स्मृतिसम्प्रजन्यचेतनोपेक्षाश्चतुर्णां दोषाणां यथासंख्यं प्रतिपक्षाः । ते पुनः स्मृत्यादयो वेदितव्या यथाक्रमम्—

आलम्बने असम्मोषो लयौद्धत्यानुबुद्धचना ॥ ५ ॥
तदपायाभिसंस्कारः शान्तौ प्रशठवाहिता ।

स्मृतिरालम्बनेऽसम्प्रमोषः । सम्प्रजन्यं स्मृत्यसम्प्रमोषे सति लयौद्धत्यानुबोधः ॥ ५ ॥

अनुबुद्धय तदपगमायाभिसंस्कारश्चेतना । तस्य लयौद्धत्यस्योपशान्तौ सत्यां प्रशठवाहिता चित्तस्योपेक्षा ॥

(घ) पञ्चेन्द्रियाणि

ऋद्धिपादानामनन्तरं पञ्चेन्द्रियाणि श्रद्धादीनि । तेषां कथं व्यवस्थानम् ?

रोपिते मोक्षभागीये छन्दयोगाधिपत्यतः ॥ ६ ॥
आलम्बने असम्मोषाविसारविचयस्य च ।

आधिपत्यत इति वर्तते । ऋद्धिपादैः कर्मण्यचित्तस्यारोपिते मोक्षभागीये कुशलमूले १. छन्दाधिपत्यतः, २. प्रयोगाधिपत्यतः, ३. आलम्बनासम्प्रमोषाधिपत्यतः, ४. अविसाराधिपत्यतः, ५. प्रविचयाधिपत्यतश्च यथाक्रमं पञ्च श्रद्धादीनीन्द्रियाणि वेदितव्यानि ।

(ङ) पञ्च बलानि

तान्येव श्रद्धादीनि बलवन्ति बलानीत्युच्यन्ते । तेषां पुनर्बलवत्त्वम्—

विपक्षस्य हि संलेखात्,

यदा तान्याश्रद्धयादिभिर्विपक्षैर्न व्यवकीर्यन्ते। कस्मात् श्रद्धादीनां पूर्वोत्तरनिर्देशः ? यस्मात्

पूर्वस्य फलमुत्तरम् ॥ ७ ॥

श्रद्दधानो हि हेतुफले वीर्यमारभते। आरब्धवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। उपस्थितस्मृतेश्चित्तं समाधीयते। समाहितचित्तो यथाभूतं प्रजानाति। अवरोपितमोक्षभागीयस्य इन्द्रियाण्युक्तानि ॥ ७ ॥

अथ निर्वेधभागीयानि किमिन्द्रियावस्थायां वेदितव्यानि ? आहोस्विद् बलावस्थायाम् ?

द्वौ द्वौ निर्वेधभागीयाविन्द्रियाणि बलानि च।

ऊष्मगतं मूर्द्धानश्चेन्द्रियाणि। क्षान्तयो लौकिकाश्चाग्रधर्मा बलानि ॥

(च) सप्त बोध्यङ्गानि

बलानन्तरं बोध्यङ्गानि। तेषां कथं व्यवस्थानम् ?

आश्रयाङ्गं स्वभावाङ्गं निर्याणाङ्गं तृतीयकम् ॥ ८ ॥
चतुर्थमनुशंसाङ्गं निःक्लेशाङ्गं त्रिधा मतम्।

दर्शनमार्गे बोधावङ्गानि बोध्यङ्गानि। तत्र बोधेराश्रयाङ्गं स्मृतिः। स्वभावाङ्गं धर्मविचयः। निर्याणाङ्गं वीर्यम्। अनुशंसाङ्गं प्रीतिः। असंक्लेशाङ्गं त्रिधा प्रस्रब्धिसमाध्युपेक्षाः। किमर्थं पुनरसंक्लेशाङ्गं त्रिधा देशितम् ?

निदानेनाश्रयेणेह स्वभावेन च देशितम् ॥ ९ ॥

असंक्लेशस्य निदानं प्रस्रब्धिदौष्ठुल्यहेतुकत्वात् संक्लेशस्य, तस्याश्च तत्प्रतिपक्षत्वात्। आश्रयः=समाधिः। स्वभावः=उपेक्षा ॥ ९ ॥

(छ) अष्ट मार्गाङ्गानि

बोध्याङ्गानन्तरं मार्गाङ्गानि। तेषां कथं व्यवस्थानम् ?

परिच्छेदोऽथ सम्प्राप्तिः परसम्भावना त्रिधा।
विपक्षऽतिपक्षश्च मार्गस्याङ्गं तदष्टधा ॥ १० ॥

भावनामार्गे परिच्छेदाङ्गं सम्यग्दृष्टिः लौकिकी लोकोत्तरपृष्ठलब्धा यया स्वाधिगमं परिच्छिनत्ति। परसम्प्रापणाङ्गं सम्यक्सङ्कल्पः सम्यग्वाक्च; ससमुत्थानया वाचा तत्प्रापणात्। परसम्भावनाङ्गं त्रिधा सम्यग्वाक्कर्मान्ताजीवाः। तैर्हि यथाक्रमम्—

दृष्टौ शीलेऽथ संलेखे परविज्ञप्तिरिष्यते।

तस्य सम्यग्वाचा कथासाङ्कथ्यविनिश्चयेन प्रज्ञायां सम्भावना भवति। सम्यक्कर्मान्तेन शीलेऽकृत्याकरणात्। सम्यगाजीवेन संलेखे, धर्मेण मात्रया च चीवराद्यन्वेषणात्। विपक्षप्रतिपक्षाङ्गं सम्यग्व्यायामस्मृतिसमाधयः। एषां हि यथाक्रमम्—

क्लेशोपक्लेशवैभुत्वविपक्षप्रतिपक्षता ॥ ११ ॥

त्रिविधो हि विपक्षः। १. क्लेशो भावनाहेयः, २. उपक्लेशो लयौद्धत्यम्, ३. विभुत्वविपक्षश्च वैशेषिकगुणाभिनिर्हारविबन्धः। तत्र प्रथमस्य सम्यग्व्यायामः प्रतिपक्षः; तेन मार्गभावनात्। द्वितीयस्य सम्यक्स्मृतिः; शमथादिनिमित्तेषु सूपस्थितस्मृतेर्लयौद्धत्याभावात्। तृतीयस्य सम्यक्समाधिः; ध्यानसन्निश्रयेणाभिज्ञादिगुणाभिनिर्हारात् ॥ ११ ॥

(ज) प्रतिपक्षभावनासमासः

सैषा प्रतिपक्षभावना समासेन त्रिविधा वेदितव्या—

अनुकूला विपर्यस्ता सानुबन्धा विपर्यया।
अविपर्यस्ता विपर्यासाननुबन्धा च भावना ॥ १२ ॥

१. विपर्यस्तापि अविपर्यासानुकूला, २. अविपर्यस्ता विपर्यासानुबन्धा, ३. अविपर्यस्ता विपर्यासनिरनुबन्धा च यथाक्रमं पृथग्जनशैक्ष्याशैक्ष्यावस्थासु ॥ १२ ॥

बोधिसत्त्वानां तु—

आलम्बनमनस्कारप्राप्तितस्तद्विशिष्टता ।

श्रावकप्रत्येकबुद्धानां हि स्वसान्तानिकाः कायादय आलम्बनम्। बोधिसत्त्वानां स्वपरसान्तानिकाः। श्रावकप्रत्येकबुद्धा अनित्यादिभिराकारैः कायादीन् मनसि कुर्वन्ति, बोधिसत्त्वास्त्वनुपलम्भयोगेन। श्रावकप्रत्येबुद्धाः स्मृत्युपस्थानादीनि भावयन्ति, यावदेव कायादीनां विसंयोगाय। बोधिसत्त्वा न विसंयोगाय नाविसंयोगाय, यावदेवाप्रतिष्ठितनिर्वाणाय ॥

उक्ता प्रतिपक्षभावना ॥

२. अवस्था

तत्रावस्था कतमा ?

हेत्ववस्थावताराख्या प्रयोगफलसंज्ञिता ॥ १३ ॥
कार्याकार्यविशिष्टा च उत्तरानुत्तरा च सा।
अधिमुक्तौ प्रवेशे च निर्याणे व्याकृतावपि ॥ १४ ॥
कथिकत्वाभिषेके च सम्प्राप्तावनुशंसने ।

कृत्यानुष्ठान उद्दिष्टा,

तत्र १. हेत्ववस्था या गोत्रस्थस्य पुद्गलस्य । २. अवतारावस्था उत्पादितबोधिचित्तस्य । ३. प्रयोगावस्था चित्तोत्पादादूर्ध्वमसम्प्राप्ते फले । ४. फलावस्था प्राप्ते । ५. सकरणीयावस्था शैक्षस्य । ६. करणीयावस्था अशैक्षस्य । ७. विशेषावस्थाभिज्ञादिगुणविशेषसमन्वागतस्य । ८. उत्तरावस्था श्रावकादिभ्यो भूमिप्रविष्टस्य बोधिसत्त्वस्य । ९. अनुत्तरावस्था बुद्धस्य, तत ऊर्ध्वमवस्थाभावात् । १०. अधिमुक्त्यवस्था बोधिसत्त्वानां सर्वस्यामधिमुक्तिचर्याभूमौ । ११. प्रवेशावस्था प्रथमायां भूमौ । १२. निर्याणावस्था तदुत्तरासु षड्भूमिषु । १३. व्याकरणावस्था अष्टम्यां भूमौ । १४. कथिकत्वावस्था नवम्याम् । १५. अभिषेकावस्था दशम्याम् । १६. प्राप्त्यवस्था बुद्धानां धर्मकायः । १७. अनुशंसावस्था साम्भोगिकः कायः । १८. कृत्यानुष्ठानावस्था निर्माणकायः । सर्वाप्येषा बहुविधावस्थाभिसमस्य वेदितव्या ॥

धर्मधातौ त्रिधा पुनः ॥ १५ ॥

अशुद्धाशुद्धशुद्धा च विशुद्धा च यथार्थतः ।

तत्र १. अशुद्धावस्था हेत्ववस्थामुपादाय यावत् प्रयोगात् । २. अशुद्धशुद्धावस्था शैक्ष्याणाम् । ३. विशुद्धावस्था अशैक्ष्याणाम् ॥

पुद्गलानां व्यवस्थानं यथायोगमतो मतम् ॥ १६ ॥

अतोऽवस्थाप्रभेदाद् यथायोगं पुद्गलानां व्यवस्थानं वेदितव्यम्—अयं गोत्रस्थोऽयमवतीर्ण इत्येवमादि ॥ १६ ॥

उक्तावस्था ॥

३. फलप्राप्तिः

फलप्राप्तिः कतमा ?

भाजनत्वं विपाकाख्यं बलं तस्याधिपत्यतः ।
रुचिर्वृद्धिर्विशुद्धिश्च फलमेतत् यथाक्रमम् ॥ १७ ॥

भाजनत्वं यः कुशलानुकूलो विपाकः । बलं या भाजनत्वाधिपत्यात् कुशलमूलस्याधिमात्रता । रुचिर्या पूर्वाभ्यासात् कुशले रुचिः । वृद्धिर्या प्रत्युत्पन्ने कुशलमूलधर्माभ्यासात् कुशलमूलपरिपुष्टिः । विशुद्धिर्यदावरणप्रहाणम् । एतद् यथाक्रमं फलं पञ्चविधं वेदितव्यम्—विपाकफलम्, अधिपतिफलम्, निष्यन्दफलम्, पुरुषकारफलम्, विसंयोगफलं च ॥

उत्तरोत्तरमाद्यञ्च तदभ्यासात् समाप्तितः ।
आनुकूल्याद् विपक्षाच्च विसंयोगाद् विशेषतः ॥ १८ ॥

उत्तरानुत्तरत्वाच्च फलमन्यत् समासतः।

उत्तरोत्तरफलं गोत्राच्चित्तोत्पाद इत्येवमादि परम्परया वेदितव्यम्। आदिफलं प्रथमलोकोत्तरधर्मप्रतिलम्भः। अभ्यासफलं तस्मात्परेण शैक्ष्यावस्थायाम्। समाप्तिफलम् अशैक्ष्या धर्माः। आनुकूल्यफलमुपनिषद्भावेनोत्तरोत्तरफलमेव वेदितव्यम्। विपक्षफलं प्रहाणमार्गो यदेवादिफलं प्रतिपक्षोऽभिमतः। विसंयोगफलं निरोधधसाक्षात्क्रिया। अभ्यासफलं समाप्तिफलं च क्लेशविसंयोगः शैक्ष्याशैक्ष्याणां यथाक्रमम्। विशेषफलमभिज्ञादिको गुणविशेषः। उत्तरफलं बोधिसत्त्वभूमयः; तदन्ययानोत्तरत्वात्। अनुत्तरफलं बुद्धभूमिः। एतानि चत्वारि अभ्याससमाप्तिफलप्रभेद एव। एतदन्यत्फलं समासनिर्देशतः। व्यासतस्त्वपरिमाणम्॥

४. प्रतिपक्षभावनापिण्डार्थः

तत्र प्रतिपक्षभावनायाः पिण्डार्थः—व्युत्पत्तिभावना, निर्लेखभावना, परिकर्मभावना, उत्तरोत्तरं समारम्भभावना, श्लिष्टभावना दर्शनमार्गश्लेषात्, प्रविष्टभावना, उत्कृष्टभावना, आदिभावना, मध्यभावना, पर्यवसानभावना च सोत्तरा भावना, निरुत्तरा च भावना या आलम्बने मनस्कारप्राप्तिविशिष्टा॥

५. अवस्थापिण्डार्थः

अवस्थानां पिण्डार्थः। भव्यतावस्था गोत्रस्थस्य। आरम्भावस्था यावत् प्रयोगात्। अशुद्धावस्था, अशुद्धशुद्धावस्था, विशुद्धावस्था, सालङ्कारावस्था, व्याप्त्यवस्था दशभूमिव्यापनात्, अनुत्तरावस्था च।

६. फलपिण्डार्थः

फलानां पिण्डार्थः—संग्रहतः, तद्विशेषतः, पूर्वाभ्यासतः, उत्तरोत्तरनिर्हारतः, उद्देशतः, निर्देशतश्च। तत्र संग्रहतः पञ्च फलानि। तद्विशेषतः शेषाणि। पूर्वाभ्यासतो विपाकफलम्। उत्तरोत्तरनिर्हारतस्तदन्यानि चत्वारि। उद्देशत उत्तरोत्तरफलादीनि चत्वारि। निर्देशत आनुकूल्यफलादीनि षट्; तेषामेव चतुर्णां निर्देशात्॥

॥ मध्यान्तविभागशास्त्रभाष्ये प्रतिपक्षभावनावस्थाफलपरिच्छेदश्चतुर्थः॥



यानानुत्तर्यपरिच्छेदः पञ्चमः

१. त्रिविधमानुत्तर्यम्

यानानुत्तर्यमिदानीं वक्तव्यम् । तदुच्यते—

आनुत्तर्यं प्रपत्तौ हि पुनरालम्बने मतम् ।
समुदागम उद्दिष्टम्;

त्रिविधमानुत्तर्यं महायाने येनैतदनुत्तरं यानम्—प्रतिपत्त्यानुत्तर्यम्, आलम्बनानुत्तर्यम्, समुदागमानुत्तर्यं च ॥

१. प्रतिपत्त्यानुत्तर्यम्

तत्र प्रतिपत्त्यानुत्तर्यं दशपारमिताप्रतिपत्तितो वेदितव्यम् ॥

प्रतिपत्तिस्तु षड्विधा ॥ १ ॥

अत्र पारमितासु—

परमाऽथ मनस्कारे अनुधर्मान्तवर्जने ।
विशिष्टा चाविशिष्टा च,

इत्येषा षड्विधा प्रतिपत्तिः, यदुत—१. परमा प्रतिपत्तिः, २. मनस्कार· प्रतिपत्तिः, ३. अनुधर्मप्रतिपत्तिः, ४. अन्तद्वयवर्जिता प्रजिपत्तिः ५. विशिष्ट-प्रतिपत्तिः, ६. अविशिष्टप्रतिपत्तिः ॥ तत्र—

२. (क) परमा प्रतिपत्तिः

परमा द्वादशात्मिका ॥ २ ॥

औदार्यमायतत्वञ्च अधिकारोऽक्षयात्मता ।
नैरन्तर्यमकृच्छ्रत्वं वित्तत्वञ्च परिग्रहः ॥ ३ ॥
आरम्भप्राप्तिनिष्यन्दनिष्पत्तिः परमा मता ।

इत्येषा द्वादशविधा परमता । यदुत १. औदार्यपरमता, २. आयतत्व-परमता, ३. अधिकारपरमता, ४. अक्षयत्वपरमता, ५. नैरन्तर्यपरमता, ६. अकृच्छ्रत्वपरमता, ७, वित्तत्वपरमता, ८. परिग्रहपरमता, ९. आरम्भ-परमता, १०. प्रतिलम्भपरमता, ११. निष्यन्दपरमता, १२. निष्पत्तिपरमता च ।

तत्र—१. औदार्यपरमता सर्वलौकिकसम्पत्त्यनर्थित्वेनोत्कृष्टतया वेदि-तव्या । २. आयतत्वपरमता त्रिकल्पासंख्येयपरिभावनात् । ३. अधिकारपरमता

सर्वसत्त्वार्थक्रियाधिकारात्। ४. अक्षयत्वपरमता महाबोधिपरिणामनयात्यन्तमपर्यादानात्। ५. नैरन्तर्यपरमतात्मपरसमताधिमोक्षात् सर्वसत्वदानादिभिः पारमितापरिपूरणात्। ६. अकृच्छ्रत्वपरमता अनुमोदनामात्रेण परदानादीनां पारमितापरिपूरणात्। ७. वित्तत्वपरमता गगनगञ्जसमाध्यादिभिर्दानादिपरिपूरणात्। ८. परिग्रहपरमता निर्विकल्पज्ञानपरिगृहीतत्वात्। ९. आरम्भपरमता अधिमुक्तिचर्याभूमावधिमात्रायां क्षान्तौ। १०. प्रतिलम्भपरमता प्रथमायां भूमौ। ११. निष्यन्दपरमता तदन्यास्वष्टासु भूमिषु। १२. निष्पत्तिपरमता दशम्यां भूमौ ताथागत्यां च बोधिसत्वनिष्पत्या बुद्धनिष्पत्या च ॥

ततश्च परमार्थेन दश पारमिता मताः ॥ ४ ॥

यत एषा द्वादशविधा परमता एतासु संविद्यते ततः परमा इत्यनेनार्थेन **दश पारमिताः** ॥

कतमा दश ?–इत्येकैकशः तन्नामव्युत्पादनार्थमुच्यते–

दानं शीलं क्षमा वीर्यं ध्यानं प्रज्ञा उपायता।
प्रणिधानं बलं ज्ञानमेताः पारमिता दश ॥ ५ ॥ इति।

किमासां प्रत्येकं कर्म—

अनुग्रहोऽविघातश्च कर्म तस्य च मर्षणम्।
गुणवृद्धिश्च सामर्थ्यमवतारविमोचने ॥ ६ ॥
अक्षयत्वं सदा वृत्तिर्नियतं भोगपाचने।

इत्येतदासां कर्म यथाक्रमम्। १. दानेन हि बोधिसत्त्वः सत्त्वाननुगृह्णाति। २. शीलेनोपघातं परेषां न करोति . क्षान्त्या परैः कृतमुपघातं मर्षयति। ४. वीर्येण गुणान् वर्धयति। ५. ध्यानेनर्द्ध्यादिभिरावर्ज्यावतारयति। ६. प्रज्ञया सम्यगववाददानाद् विमोचयति। ७. उपायकौशल्यपारमितया महाबोधिपरिणामनाद्दानादीनक्षयान् करोति। ८. प्रणिधानपारमितयानुकूलोपपत्तिपरिग्रहात् सर्वजन्मसु बुद्धोत्पादारागणतो दानादिषु सदा प्रवर्तते। ९. बलपारमितया प्रतिसंख्यानभावनाबलाभ्यां नियतं दानादिषु प्रवर्तते, विपक्षानभिभवात्। १०. ज्ञानपारमितया यथारुतधर्मसम्मोहापगमाद्दानाद्याधिपतेयधर्मसम्भोगं च प्रत्यनुभवति सत्त्वांश्च परिपाचयति।

उक्ता परमा प्रतिपत्तिः ॥

२. (ख) मनस्कारप्रतिपत्तिः

मनस्कारप्रतिपत्तिः कतमा ?

यथाप्रज्ञप्तितो धर्ममहायानमनस्क्रिया ॥ ७ ॥

बोधिसत्त्वस्य सततं प्रज्ञया त्रिप्रकारया।

दानादीन्यधिकृत्य यथाप्रज्ञप्तानां सूत्रादिधर्माणां महायाने मनसिकरणमभीक्ष्णं श्रुतचिन्ताभावनामय्या प्रज्ञया मनसिकारप्रतिपत्तिः ॥ ७ ॥

सा त्रिप्रकारया प्रज्ञया मनसिक्रिया कं गुणमावहति ?

धातुपुष्टयै प्रवेशाय चार्थसिद्धयै भवत्यसौ ॥ ८ ॥

तत्र श्रुतमय्या प्रज्ञया मनसिकुर्वतो धातुपुष्टिर्भवति। चिन्तामय्या तस्य श्रुतस्यार्थभावेन प्रविशति। भावनामय्यार्थसिद्धिं प्राप्नोति, भूमिप्रवेशपरिशोधनात् ॥ ८ ॥

संयुक्ता धर्मचरितैः सा ज्ञेया दशभिः पुनः।

सा पुनर्मनसिकारप्रतिपत्तिर्दशभिर्धर्मचरितैः परिगृहीता वेदितव्या।

कतमद् दशधा धर्मचरितम् ?

लेखनं पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ॥ ९ ॥

प्रकाशनाऽथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावना च तत्।

महायानस्य १. लेखनम्, २. पूजनम्, ३. परेभ्यो दानम्, ४. परेण वाच्यमानस्य श्रवणम्, ५. स्वयं च वाचनम्, ६. उद्ग्रहणम्, ७. परेभ्यः प्रकाशनम्, ८. ग्रन्थस्यार्थस्य वा स्वाध्ययनम्, ९. चिन्तनम् १०. भावनं च ॥

अमेयपुण्यस्कन्धं हि चरितं तद् दशात्मकम् ॥ १० ॥

कस्मान्महायान एव धर्मचरितमत्यन्तं महाफलं देश्यते, न पुनः श्रावकयाने ? द्वाभ्यां कारणाभ्याम्—

विशेषादक्षयत्वाच्च, परानुग्रहतोऽशमात्।

कथं विशेषात् ? कथमक्षयत्वात् ? परानुग्रहवृत्तित्वाद्विशिष्टत्वं परिनिर्वाणेऽप्यशमाद् अनुपरमादक्षयत्वं वेदितव्यम् ॥ उक्ता मनस्कारप्रतिपत्तिः ॥

(ग) अनुधर्मप्रतिपत्तिः

अनुधर्मप्रतिपत्तिः कतमा ?

अविक्षिप्ताऽविपर्यासपरिणताऽनुधार्मिकी ॥ ११ ॥

इत्येषा द्विविधानुधर्मप्रतिपत्तिर्यदुताविक्षिप्ता चाविपर्यासपरिणता च ॥

(अ) अविक्षिप्तपरिणता

तत्र षड्विधविक्षेपाभावादविक्षिप्ता। तत्र षड्विधो विक्षेपः—प्रकृतिविक्षेपः, बहिर्धाविक्षेपः, अध्यात्मविक्षेपः, निमित्तविक्षेपः, दौष्ठुल्यविक्षेपः, मनसिकारविक्षेपश्च। स चात्र किंलक्षणो वेदितव्यः ? इत्यत आह—

व्युत्थानं विषये सारस्तथास्वादलयोद्धवः।

सम्भावनाऽभिसन्धिश्च मनस्कारेऽप्यहंकृतिः ॥ १२ ॥

हीनचित्तं तु विक्षेपः परिज्ञेयो हि धीमता ।

इत्येवंलक्षणः षड्विधो विक्षेपोत्पादो यो बोधिसत्त्वेन परिज्ञेयः । तत्र— १. व्युत्थानं समाधितः पञ्चभिर्विज्ञानकायैः प्रकृतिविक्षेपः, २. विषये सारो बहिर्धाविक्षेपः, ३. समाधेरास्वादना लयौद्धत्यं चाध्यात्मविक्षेपः, ४. सम्भावनाभिसन्धिर्निमित्तविक्षेपः, तन्निमित्तं कृत्वा प्रयोगात् । ५. साहङ्कारमनस्कारता अशुद्धविक्षेपः, दौष्ठुल्यवशेनास्मिमानसमुदाचारात्, ६. हीनचित्तत्वं मनसिकारविक्षेपः, हीनयानमनसिकारसमुदाचारात् ॥

(आ) अविपर्यासपरिणता

तत्राविपर्यासो दशविधे वस्तुनि वेदितव्यः; यदुत—

व्यञ्जनार्थमनस्कारेऽविसारे लक्षणद्वये ॥ १३ ॥
अशुद्धशुद्धावागन्तुकत्वेऽत्रासे अनुन्नतौ ।

१. तत्कथं व्यञ्जनेऽविपर्यासः ? तत्र—

संयोगात् सम्भवाच्चैव वियोगादप्यसम्भवात् ॥ १४ ॥
अर्थसत्त्वमसत्त्वञ्च व्यञ्जने सोऽविपर्ययः ।

संयोगे सति व्यञ्जनानामविच्छिन्नोच्चारणतया अस्य चेदं नामेति सम्भवात् सार्थकत्वम्, विपर्ययान्निरर्थकत्वमिति यदेवं दर्शनं सोऽविपर्यासो व्यञ्जने वेदितव्यः ॥ (१) २. तत्कथमर्थेऽविपर्यासः ?

द्वयेन प्रतिभासत्वं तथा चाऽविद्यमानता ॥ १५ ॥
अर्थे स चाविपर्यासः सदसत्त्वेन वर्जितः ।

द्वयेन ग्राह्यग्राहकत्वेन प्रतिभासते तदाकारोत्पत्तितः । तथा च न विद्यते यथा प्रतिभासत इति । अर्थे यद् दर्शनं स तत्राविपर्यासः अर्थस्य सत्त्वेन वर्जितः; ग्राह्यग्राहकाभावात् । असत्त्वेन वर्जितः; तत्प्रतिभासभ्रान्तिसद्भावात् ॥

३. तत्कथं मनस्कारेऽविपर्यासः ?

तज्जल्पभावितो जल्पमनस्कारस्तदाश्रयः ॥ १६ ॥
मनस्कारेऽविपर्यासो द्वयप्रख्यानकारणे ।

ग्राह्यग्राहकजल्पपरिभावितो जल्पमनस्कारस्तस्य ग्राह्यग्राहकविकल्पस्याश्रयो भवतीत्ययं मनस्कारेऽविपर्यासः । कतमस्मिन् मनस्कारे ? ग्राह्यग्राहकसम्प्रख्यानकारणे । स ह्यसौ जल्पमनस्कारोऽभिलापसंज्ञापरिभावितत्वाद् ग्राह्यग्राहकविकल्पाश्रयो वेदितव्यः ॥ (३) ४. तत्कथमविसारेऽविपर्यासः ?

मायादिवदसत्त्वञ्च सत्त्वं चार्थस्य तन्मतम् ॥ १७ ॥
सोऽविसारेऽविपर्यासो भावाभावाविसारतः ।

यत्तदर्थस्यासत्त्वं सत्त्वं चानन्तरमुक्तं तन्मायादिवन्मतम्। यथा माया न हस्त्यादिभावेनास्ति, न च नैवास्ति, तद्भ्रान्तिमात्रास्तित्वात्; एवमर्थोऽपि न चास्ति यथा सम्प्रख्याति ग्राह्यग्राहकत्वेन, न च नैवास्ति तद्भ्रान्तिमात्रास्तित्वात्। आदिशब्देन मरीचिस्वप्नोदकचन्द्रादयो दृष्टान्ता यथायोगं वेदितव्या इति यन्मायाद्युपमार्थे दर्शनादविसारं चेतसः पश्यति सोऽविसारेऽविपर्यासः; तेन भावाभावयोश्चित्तस्याविसरणात्॥ (४)

५. तत्कथं स्वलक्षणेऽविपर्यासः?

सर्वस्य नाममात्रत्वं सर्वकल्पाप्रवृत्तये॥ १८॥
स्वलक्षणेऽविपर्यासः, परमार्थे स्वलक्षणे।

सर्वमिदं नाममात्रं यदिदं चक्षू रूपं यावन्मनोधर्मा इति यज्ज्ञानं सर्वविकल्पानां प्रतिपक्षेण। अयं स्वलक्षणेऽविपर्यासः। कतमस्मिन् स्वलक्षणे? **परमार्थे स्वलक्षणे।** संवृत्या तु नेदं नाममात्रमिति गृह्यते॥ (५)

६. तत्कथं सामान्यलक्षणेऽविपर्यासः?

धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद् धर्मो न विद्यते॥ १९॥
सामान्यलक्षणं तस्मात् स च तत्राविपर्ययः।

न हि धर्मनैरात्म्येन विना कश्चिद्धर्मो विद्यते, तस्माद् धर्मधातुः सर्वधर्माणां सामान्यं लक्षणमिति यदेवं ज्ञानम्, अयं सामान्यलक्षणेऽविपर्यासः॥ (६)

७. तत्कथं धर्मधातावविपर्यासः?

विपर्यस्तमनस्काराविहानिपरिहाणितः॥ २०॥
तदशुद्धिर्विशुद्धिश्च स च तत्राविपर्ययः।

विपर्यस्तमनस्काराप्रहाणं तस्य धर्मधातोरविशुद्धिस्तत्प्रहाणं विशुद्धिरिति यदेवं ज्ञानम्, अयमविशुद्धौ विशुद्धौ चाविपर्यासो यथाक्रमम्॥ (७)

८. तत्कथमागन्तुकत्वेऽविपर्यासः?

धर्मधातोर्विशुद्धत्वात् प्रकृत्या व्योमवत् पुनः॥ २१॥
द्वयस्यागन्तुकत्वं हि स च तत्राविपर्ययः।

धर्मधातोः पुनराकाशवत् प्रकृतिविशुद्धत्वाद् द्वयमप्येतदागन्तुकमविशुद्धिविशुद्धिश्च पश्चादिति यदेवं ज्ञानम्, अयमागन्तुकत्वेऽविपर्यासः॥ (८)

९-१०. तत्कथमत्रासेऽनुन्नतौ चाविपर्यासः?

संक्लेशश्च विशुद्धिश्च धर्मपुद्गलयोर्न हि॥ २२॥
असत्त्वात् त्रासता-मानौ नातः सोऽत्राविपर्ययः।

न हि पुद्गलस्य संक्लेशो न विशुद्धिर्नापि धर्मस्य, यस्मान्न पुद्गलोऽस्ति न धर्मः। यतश्च न कस्यचित् कर्मसंक्लेशो न व्यवदानम्, अतो न संक्लेशपक्षे

कस्यचिद्धानिर्न व्यवदानपक्षे कस्यचिद्विशेषो यतस्त्रासो वा स्यादुन्नतिर्वा—इत्ययमत्रासेऽनुन्नतौ चाविपर्यासः ॥ (९-१०)

दश वज्रपदानि

एते च दशाविपर्यासा दशसु वज्रपदेषु यथाक्रमं योजयितव्याः। दश वज्रपदानि—१. सदसत्ताऽविपर्यासः, २. आश्रयः, ३. मायोपमता, ४. अविकल्पनता, ५. प्रकृतिप्रभास्वरता, ६. संक्लेशः, ७. व्यवदानम्, ८. आकाशोपमता, ९. अहीनता, १०. अविशिष्टता च।

वज्रपदानां शरीरव्यवस्थानम्—स्वभावत आलम्बनतोऽविकल्पनतश्चोद्यपरिहारतश्च। तत्र स्वभावतस्त्रयः स्वभावाः–परिनिष्पन्न-परिकल्पित-परतन्त्राख्याः। आद्यैस्त्रिभिः पदैर्यथाक्रमम्। आलम्बनतस्त एव। अविकल्पनतो येन च न विकल्पयति निर्विकल्पेन ज्ञानेन, यच्च न विकल्पयति प्रकृतिप्रभास्वरताम्। तदनेन ज्ञेयज्ञानव्यवस्थानं यथाक्रमं वेदितव्यम्, यदुत—त्रिभिः स्वभावैरविकल्पनतया च। चोद्यपरिहारतः शिष्टानि पदानि। तत्रेदं चोद्यम्—१. यद्येते परिकल्पितपरतन्त्रलक्षणा धर्मा न संविद्यन्ते, कथमुपलभ्यन्ते ? अथ संविद्यन्ते, धर्माणां प्रकृतिप्रभास्वरता न युज्यते ? तन्मायोपमतया परिहरति—यथा मायाकृतं न विद्यते उपलभ्यते च। २. यदि प्रकृतिप्रभास्वरता धर्माणां तत्कथं पूर्वं संक्लेशः, पश्चाद् व्यवदानम् ? अस्य परिहारः—संक्लेशव्यवदानमाकाशोपमतया वेदितव्यम्। यथाकाशं प्रकृतिपरिशुद्धं संक्लिश्यते व्यवदायते चेति। ३. यद्यप्रमेयबुद्धोत्पादे सति अप्रमेयाणां सत्त्वानां संक्लेशोपशमः, तत्कथं न संसारसमुच्छेदो न निर्वाणवृद्धिर्भवति ? तस्याहीनाविशिष्टतया परिहारः। अप्रमेयत्वात् सत्त्वधातोर्व्यवदानपक्षस्य च।

द्वितीयं शरीरव्यवस्थानम्—

यत्र या च यतो भ्रान्तिरभ्रान्तिर्या च यत्र च।
भ्रान्त्यभ्रान्तिफले चैव पर्यन्तश्च तयोरिति॥
सदसत्ताविपर्यास आश्रयो माययोपमा।
अकल्पना प्रकृत्या च भास्वरत्वं सदैव हि॥
संक्लेशो व्यदानं च आकाशोपमता तथा।
अहीनानधिरूपं च दश वज्रपदानि हि॥

उक्तानुधर्मप्रतिपत्तिः॥

(घ) अन्तद्वयवर्जनप्रतिपत्तिः

अन्तद्वयवर्जने प्रतिपत्तिः कतमा ? या रत्नकूटे मध्यमा प्रतिपत्तिरुपदिष्टा। कस्यान्तस्य वर्जनायासौ वेदितव्या ?

पृथक्त्वैकत्वमन्तश्च तीर्थ्यश्रावकयोरपि॥ २३॥

समारोपापवादान्तो द्विधा पुद्गलधर्मयोः ।
विपक्षप्रतिपक्षान्तः शाश्वतोच्छेदसंज्ञितः ॥ २४ ॥
ग्राह्यग्राहकसंक्लेशव्यवदाने द्विधा त्रिधा ।
विकल्पद्वयतान्तत्वात् स च सप्तविधो मतः ॥ २५ ॥
भावाभावे प्रशाम्येऽथ शमने त्रास्य-तद्भये ।
ग्राह्यग्राहकसम्यक्त्व-मिथ्यात्वे व्यापृतौ न च ॥ २६ ॥
अजन्मसमकालत्वे सविकल्पद्वयाऽन्तता ।

१. तत्र रूपादिभ्यः पृथक्त्वमात्मन इत्यन्तः । एकत्वमित्यन्तः । तत्परिवर्जनार्थं मध्यमा प्रतिपत् । या नात्मप्रत्यवेक्षा यावन्न मानवप्रत्यवेक्षा । आत्मदर्शने हि—स जीवस्तच्छरीरम्, अन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमिति भवति दर्शनम् ।

२. नित्यं रूपमिति तीर्थिकान्तः, अनित्यमिति श्रावकान्तः । तत्परिवर्जनार्थं मध्यमा प्रतिपत्—या रूपादीनां न नित्यप्रत्यवेक्षा नानित्यप्रत्यवेक्षा ।

३. आत्मेति पुद्गलसमारोपान्तः, नैरात्म्यमित्यपवादान्तः, प्रज्ञप्तिसतोऽप्यपवादात् । तत्परिवर्जनार्थं मध्यमा प्रतिपत्—यदात्मनैरात्म्ययोर्मध्यं निर्विकल्पं ज्ञानम् ।

४. भूतं चित्तमिति धर्मसमारोपान्तः, अभूतमित्यपवादान्तः । तत्परिवर्जनार्थं मध्यमा प्रतिपद्—यत्र न चित्तं न चेतना न मनो न विज्ञानम् ।

५. अकुशलादयो धर्माः संक्लेश इति विपक्षान्तः, कुशलादयो व्यवदानमिति प्रतिपक्षान्तः । तत्परिवर्जनार्थं मध्यमा प्रतिपद्—योऽस्यान्तद्वयस्यानुपगमोऽनुदाहारो अप्रव्याहारः ।

६. अस्तीति शाश्वतान्तः, तयोरेव पुद्गलधर्मयोर्नास्तीत्युच्छेदान्तः । तत्परिवर्जनार्थं मध्यमा प्रतिपद्—यदनयोर्द्वयोरन्तयोर्मध्यम् ।

७. अविद्या ग्राह्या ग्राहिका चेत्यन्तः । एवं विद्या संस्काराश्चासंस्कृतं च तत्प्रतिपक्षो यावज्जरामरणं ग्राह्यं ग्राहकं चेत्यन्तस्तन्निरोधो ग्राह्यो ग्राहको वेत्यन्तो येन मार्गेण तन्निरुध्यते । एवं ग्राह्यग्राहकान्तो द्विधा कृष्णशुक्लपक्षभेदेन । तत्परिवर्जनार्थं मध्यमा प्रतिपद्—विद्या चाविद्या चाद्वयमेतदिति विस्तरेण; विद्याविद्यादीनां ग्राह्यग्राहकत्वाभावात् ।

८. त्रिविधः संक्लेशः—१. क्लेशसंक्लेशः, २. कर्मसंक्लेशः, ३. जन्मसंक्लेशश्च । तत्र १. क्लेशसंक्लेशस्त्रिविधः—दृष्टिः रागद्वेषमोहनिमित्तं पुनर्भवप्रणिधानं च, यस्य प्रतिपक्षो ज्ञानशून्यता ज्ञाननिमित्तं ज्ञानाप्रणिहितं च । २. कर्मसंक्लेशः शुभाशुभकर्माभिसंस्कारः; यस्य प्रतिपक्षो ज्ञानानभिसंस्कारः ।

३. जन्मसंक्लेशः पुनर्भवजातिर्जातस्य चित्तचैत्तानां प्रतिक्षणोत्पादः, पुनर्भवप्रबन्धश्च, यस्य प्रतिपक्षो ज्ञानाजातिर्ज्ञानानुत्पादो ज्ञानास्वभावता च। एतस्य त्रिविधस्य संक्लेशस्यापगमो व्यवदानम्। तत्र ज्ञानशून्यतादिभिर्ज्ञेयशून्यतादयो धर्मा एतेन त्रिविधेन संक्लेशेन यथायोगं यावन्न शून्यतादयः क्रियन्ते, प्रकृत्यैव शून्यतादयः; धर्मधातोः प्रकृत्यसंक्लिष्टत्वात्। तत्र यदि धर्मधातुः संक्लिश्यते च विशुध्यते चेति कल्पयत्ययमन्तः; प्रकृत्यसंक्लिष्टस्य संक्लेशविशुद्ध्यभावात्। एतस्यान्तस्य परिवर्जनार्थं मध्यमा प्रतिपद्—यन्न शून्यतया धर्मान् शून्यान् करोति, अपि तु धर्मा एव शून्या इत्येवमादि ॥

अपरः सप्तविधो विकल्पद्वयान्तः, तद्यथा—

१. भावेऽपि विकल्पोऽन्तोऽभावेऽपि। पुद्गलोऽस्ति यस्य विनाशाय शून्यता, नैरात्म्यमपि वा नास्तीति कल्पनात्। तदेतस्य विकल्पद्वयान्तस्य परिवर्जनार्थमियं मध्यमा प्रतिपत्—न खलु पुद्गलविनाशाय शून्यता, अपि तु शून्यतैव शून्या। पूर्वान्तशून्यता, अपरान्तशून्यता, प्रत्युत्पन्नशून्यता इत्येवमादि विस्तरः ॥

२. शाम्येऽपि विकल्पोऽन्तः, शमनेऽपि विकल्पोऽन्तः; प्रहेयप्रहाणकल्पनया शून्यतायास्त्रसनात्। एतस्य विकल्पद्वयान्तस्य परिवर्जनार्थमाकाशदृष्टान्तः ॥

३. त्रास्येऽपि विकल्पोऽन्तस्ततश्च त्रास्याद्भयेऽपि, परिकल्पितरूपादित्रसनाद् दुःखभीरुतया। एतस्य विकल्पद्वयान्तस्य परिवर्जनार्थं चित्रकरदृष्टान्तः। पूर्वको दृष्टान्तः श्रावकानारभ्य, अयं तु बोधिसत्त्वात् ॥

४. ग्राह्येऽपि विकल्पोऽन्तः, ग्राहकेऽपि। एतस्य विकल्पद्वयान्तस्य परिवर्जनार्थं मायाकारदृष्टान्तः। विज्ञप्तिमात्रज्ञानकृतं ह्यर्थाभावज्ञानम्। तच्चार्थाभावज्ञानं तदेव विज्ञप्तिमात्रज्ञानं निवर्तयति, अर्थाभावे विज्ञप्त्यसम्भवादिति तत्र साधर्म्यम् ॥

५. सम्यक्त्वेऽपि विकल्पोऽन्तो मिथ्यात्वेऽपि, भूतप्रत्यवेक्षां सम्यक्त्वेन कल्पयतो मिथ्यात्वेन वा। एतस्यान्तद्वयस्य परिवर्जनार्थं काष्ठद्वयाग्निदृष्टान्तः। यथा काष्ठद्वयादनग्निलक्षणादग्निर्जायते, जातश्च तदेव काष्ठद्वयं दहति। एवमसम्यक्त्वलक्षणाया यथाभूतप्रत्यवेक्षायाः सम्यक्त्वलक्षणमार्यं प्रज्ञेन्द्रियं जायते। जातं च तामेव भूतप्रत्यवेक्षां विभावयति। इत्येतदत्र साधर्म्यम्। न चासम्यक्त्वलक्षणाऽपि भूतप्रत्यवेक्षा मिथ्यात्वलक्षणा; सम्यक्त्वानुकूल्यात् ॥

६. व्यापृतावपि विकल्पोऽन्तोऽव्यापृतावपि ज्ञानस्य बुद्धिपूर्वां क्रियां निःसामर्थ्यं वा कल्पयतः; एतस्य विकल्पद्वयान्तस्य परिवर्जनार्थं तैलप्रद्योतदृष्टान्तः ॥

७. अजन्मत्वेऽपि विकल्पोऽन्तः, समकालत्वेऽपि, यदि प्रतिपक्षस्यानुत्पत्तिं वा कल्पयति संक्लेशस्यैव वा दीर्घकालत्वम्। एतस्य विकल्पद्वयान्तस्य परिवर्जनार्थं द्वितीयस्तैलप्रद्योतदृष्टान्तः ॥ उक्ताऽन्तद्वयपरिवर्जने प्रतिपत्तिः ॥

(ङ–च) विशिष्टाविशिष्टप्रतिपत्तिः

विशिष्टा चाविशिष्टा च प्रतिपत्तिः कतमा ?

विशिष्टा चाविशिष्टा च ज्ञेया दशसु भूमिषु ॥ २७ ॥

यस्यां भूमौ या पारमिताऽतिरिक्ततरा सा तत्र विशिष्टा। सर्वासु च सर्वत्र समुदागच्छतीत्यविशिष्टा ॥ २७ ॥ उक्तं प्रतिपत्त्यानुत्तर्यम्।

३. आलम्बनानुत्तर्यम्

आलम्बनानुत्तर्यं कतमत् ?

व्यवस्थानं तथा धातुः साध्यसाधनधारणा।
अवधारप्रधारा च प्रतिवेधः प्रतानता ॥ २८ ॥
प्रगमः प्रशठत्वञ्च प्रकर्षालम्बनं मतम्।

इत्येतद् द्वादशविधमालम्बनम्, यदुत—धर्मप्रज्ञप्तिव्यवस्थानालम्बनं धर्मधात्वालम्बनं साध्यालम्बनं साधनालम्बनं धारणालम्बनम्, अवधारणालम्बनं प्रधारणालम्बनं प्रतिवेधालम्बनं प्रतानतालम्बनं प्रगमालम्बनं प्रशठतालम्बनं प्रकर्षालम्बनं च। तत्र प्रथमं ये पारमितादयो धर्मा व्यवस्थाप्यन्ते। द्वितीयं तथता। तृतीयचतुर्थे त एव यथाक्रमं धर्मधातुप्रतिवेधेन पारमितादिधर्माधिगमात्। पञ्चमं श्रुतमयज्ञानालम्बनम्। षष्ठं चिन्तामयस्यावगम्य धारणात्। सप्तमं भावनामयस्य प्रत्यात्मं धारणात्। अष्टमं प्रथमायां भूमौ दर्शनमार्गस्य। नवमं भावनामार्गस्य यावत्सप्तम्यां भूमौ। दशमं तत्रैव लौकिकलोकोत्तरस्य मार्गस्य प्रकारशो धर्माधिगमात्। एकादशमष्टम्यां भूमौ द्वादशं नवम्यादिभूमित्रये। तदेव हि प्रथमद्वयं तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तदालम्बनं नाम लभते ॥ उक्तमालम्बनम् ॥

४. समुदागमानुत्तर्यम्

समुदागमः कतमः ?

अवैकल्याऽप्रतिक्षेपोऽविक्षेपश्च प्रपूरणा ॥ २९ ॥
समुत्पादो निरूढिश्च कर्मण्यत्वाप्रतिष्ठिता।
निरावरणता तस्याऽप्रश्रब्धिसमुदागमः ॥ ३० ॥

इत्येष दशविधः समुदागमः। तत्र प्रत्ययावैकल्यं गोत्रसमुदागमः। महायानाप्रतिक्षेपो अधिमुक्तिसमुदागमः। हीनयानाविक्षेपश्चित्तोत्पादसमुदागमः। पारमितापरिपूरणा प्रतिपत्तिसमुदागमः। आर्यमार्गोत्पादो नियामावक्रान्तिसमुदागमः। कुशलमूलनिरूढित्वं दीर्घकालपरिचयात् सत्त्वपरि-

पाकसमुदागमः। चित्तकर्मण्यत्वं क्षेत्रपरिशुद्धिसमुदागमः। संसारनिर्वाणाप्रतिष्ठता अविनिवर्तनीयभूमिव्याकरणलाभसमुदागमः; संसारनिर्वाणाभ्यामविनिवर्तनात्। निरावरणता बुद्धभूमिसमुदागमः। तदप्रश्रब्धिर्बोधिसन्दर्शनसमुदागमः। इत्येतत् —

शास्त्रं मध्यविभागं हि गूढं सारार्थमेव च।
महार्थं चैव सर्वार्थं सर्वाऽनर्थप्रणोदनम्॥ ३१॥

समाप्तं मध्यान्तविभागशास्त्रम्

मध्यमा प्रतिपत्प्रकाशनान्मध्यान्तविभागमप्येतन्मध्यस्यान्तयोश्च प्रकाशनात्। **गूढमिति**। आद्यपरवर्जितस्य मध्यस्य वा तर्कस्यागोचरत्वात् परवादिभिरभेद्यत्वाच्च यथाक्रमम्। **महार्थमिति**। स्वपराधिकारात्। **सर्वार्थमिति**। यानत्रयाधिकारात्। **सर्वानर्थप्रणोदनमिति**। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणावाहनात्॥

५. आनुत्तर्यपिण्डार्थः

आनुत्तर्यपिण्डार्थः। समासतस्त्रिविधमानुत्तर्यम्—प्रतिपत्तिः, प्रतिपत्त्याधारः, प्रतिपत्तिफलं चैव। सा च प्रतिपत्तिर्यादृशी परमा, येन च

'यथाप्रज्ञप्तितो धर्मे महायानमनस्क्रिया'

इत्येवमादिना यथा येन प्रकारेण अविक्षेपपरिणता च शमथभावनया, अविपर्यासपरिणता च विपश्यनाभावनया, यदर्थं च मध्यमया प्रतिपदा निर्याणार्थं यत्र च दशसु भूमिषु विशिष्टा चाविशिष्टा च॥

६. अविपर्यासपिण्डार्थः

अविपर्यासानां पिण्डार्थः। व्यञ्जनाविपर्यासेन शमथमेव निमित्तं प्रतिविध्यति। अर्थाविपर्यासेन विपश्यनानिमित्तं प्रतिविध्यति। मनस्काराविपर्यासेन विपर्यासनिदानं परिवर्जयति। अविसाराविपर्यासेन तन्निमित्तमुद्गृहीतं करोति। स्वलक्षणाविपर्यासेन तत्प्रतिपक्षेणाविकल्पं मार्गं भावयति। सामान्यलक्षणाविपर्यासेन व्यवदानप्रकृतिं प्रतिविध्यति। अशुद्धिशुद्धिमनस्काराविपर्यासेन तदावरणप्रहीणाप्रहीणतां प्रजानाति। तदागन्तुकत्वाविपर्यासेन संक्लेशव्यवदानं यथाभूतं प्रजानाति। अत्रासानुन्नत्यविपर्यासेन निरावरणो निर्याति॥ ३१॥

॥ यानानुत्तर्यपरिच्छेदः पञ्चमः॥

व्याख्यामिमामुपनिबध्य यदस्ति पुण्यं पुण्योदयाय महते जगतस्तदस्तु।
ज्ञानोदयाय च यतोऽभ्युदयं महान्तं बोधित्रयं च न चिराज्जगदश्नुवीत॥

इति मध्यान्तविभागकारिकाभाष्यं समाप्तम्॥

॥ कृतिरियमाचार्यभदन्त वसुबन्धोः॥



॥ आर्यमञ्जुश्रिये कुमारभूताय नमः ॥

आर्यमैत्रेयप्रणीतम्

म ध्या न्त वि भा ग शा स्त्र म्

आचार्यस्थिरमतिविरचित-

आगमानुसारिणीटीकांशोपेतम्



मङ्गलाचरणम्

उत्तमजना हि प्रायशो गुरुम्, श्रद्धादेवतां चाभ्यर्च्य कर्मसु प्रवर्तन्ते-इत्ययमप्यहमुत्तमजननयमनुवर्ती **मध्यान्तविभागसूत्रभाष्यं** चिकीर्षुरिति ज्ञापनार्थं तत्प्रणेतुर्वक्तुश्च पूजां कृत्वा तदर्थविभागाय प्रयुक्त इति प्रतिपादयन्नाह (आचार्यो वसुबन्धुः)—

शास्त्रस्यास्य प्रणेतारमभ्यर्ह्य सुगतात्मजम् ।
वक्तारमस्मदादिभ्यो यतिष्येऽर्थविवेचने ॥ इति ॥

अस्य कारिकाशास्त्रस्य आर्यमैत्रेयः प्रणेता । वक्ता पुनरस्य आर्योऽसङ्गः । तस्माच्छ्रुत्वाऽऽचार्यवसुबन्धुस्तस्य भाष्यमकरोत् । तौ च परमप्रज्ञावित्यभ्रान्तवबोधौ सूत्रार्थमुपदिशत इति भाष्ये गौरवमुत्पद्यते । इयं प्रणेतुर्वक्तुश्च प्रतीत्या प्रभावना, न तु तर्कागममात्रेण प्रभावनेति । प्रणेतुस्तत्त्वावबोधसम्पदं निर्देष्टुम् —**सुगतात्मज**मिति ।

लोकोत्तरज्ञानप्रापकशब्दविशेषप्रभासा विज्ञप्तयः **शास्त्रम्** । अथवा शासनाच्छास्त्रम् । यदुपदेशः सर्वक्लेशप्रहाणायापद्यते, निरन्तरदीर्घविविधतीव्रदुःखभीतान् दुर्गतेर्भवाच्च सन्त्रायते । आह[1] च—

'यच्छास्ति च क्लेशरिपूनशेषान् सन्त्रायते दुर्गतितो भवाच्च ।
तच्छासनात् त्राणगुणाच्च शास्त्रमेतद् द्वयं चान्यमतेषु नास्ति' ॥

धर्मनैरात्म्यदेशनया निर्विकल्पज्ञानोत्पादात् तदभ्यासाच्च निःशेषवासनाक्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमवाप्यत इति यथाभूतनैरात्म्यप्रतिपादनार्थं शास्त्रारम्भः ॥

---

१ मध्यमकशास्त्रस्य प्रसन्नपदटीकायाः प्रारम्भे आचार्यश्चन्द्रकीर्त्तिः ।

शास्त्र-शरीरव्यवस्थापनम्

लक्षणं ह्यावृतिस्तत्त्वं प्रतिपक्षस्य भावना।
अवस्था च फलप्राप्तिर्यानानुत्तर्यमेव च ॥ १ ॥

तत्रादितः शास्त्रशरीरव्यवस्थापनम्। एते सप्तार्था अस्मिञ्छास्त्रे उद्दिष्टाः—१. लक्षणमिति लक्ष्यतेऽनेनेति। तच्च द्विविधम्-संक्लेशलक्षणम्, व्यवदानलक्षणं च। तत्र संक्लेशलक्षणं नवविधं 'अभूतपरिकल्पोऽस्ति' (का० १) इत्यारभ्य 'सप्तधाऽभूतकल्पनात् (का० ११) इति यावत्।

अथवा—लक्ष्यते तदिति लक्षणम्। एवं हि संक्लेशो व्यवदानं च संक्लेश-व्यवदानत्वेन लक्ष्यत इति लक्षणं भवति।

अथवा—द्वयोः संक्लेशव्यवदानयोर्लक्षणं द्विविधम् लक्षणम्। तच्च स्व-लक्षणम्, सामान्यलक्षणं च। २.आवृतिः=आवरणम्। आवृणोति कुशलान् धर्मान्, आव्रियन्ते वाऽनेन कुशला धर्मा इत्यावरणम्। तत् पुनस्त्रिपञ्चाशत्प्रकारम्। ३. तत्त्वमिति तदेवेदम्, तत् तस्य भावस्तत्त्वम्। अविपरीतमित्यर्थः। तत् पुनर्दशविधम्। ४. विपक्षप्रहाणात् पक्षः प्रतिपक्षः। स हि मार्गः। तदभ्यासो

मध्यान्तविभागशास्त्र का

हिन्दी-रूपान्तर

ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का संकेत

[आचार्य सर्वप्रथम इस शास्त्र का अभिधेय बता रहे हैं—] इस शास्त्र में सात अर्थों (विषयों) का व्याख्यान किया गया है, वे हैं—१. लक्षण, २. आवृति, ३. तत्त्व, ४. प्रतिपक्ष की भावना, ५. अवस्था, ६. फलप्राप्ति, और ७. यानानुत्तर्य।

[१. जिससे लक्षित किया जाय उसे 'लक्षण' कहते हैं। वह दो प्रकार का है—१. संक्लेशलक्षण और २. व्यवदानलक्षण। संक्लेशलक्षण नौ प्रकार का है, जिसका कि आगे इसी परिच्छेद में 'अभूतपरिकल्पोऽस्ति' कारिका से 'सप्तधाऽभूतकल्पनात्' कारिका तक व्याख्यान किया गया है। २. 'आवृति' का अर्थ है आवरण। अर्थात् जो कुशल धर्मों का आवरण करे। वह ५३ प्रकार की है। ३. 'तत्त्व' कहते हैं अविपरीत भाव को। वह दस प्रकार का है। ४. विपक्ष के प्रहाण से पक्ष को ही 'विपक्ष' कहते हैं। वह है मार्ग। उसके अभ्यास को ही 'भावना' कहते हैं। ५. उसी की सन्तान से उत्पत्तिविशेष को 'अवस्था' कहते हैं। वह गोत्रावस्थादि भेद से उन्नीस (१९) प्रकार की होती है। ६. फल के लाभ को 'फलप्राप्ति' कहते हैं।

भावना। ५. अवस्था। तस्यैव सन्तानेनोत्पत्तिविशेषः। सा पुनरेकोनविंशति-प्रकारा गोत्रावस्थादिका। ६. फलस्य लाभः फलप्राप्तिः। तत्पुनः पञ्चदश-प्रकारं विपाकफलादि। ७. यानानुत्तर्यमिति। यात्यनेनेति यानम्। यानं च तदानुत्तर्यं चेति। तत्पुनस्त्रिविधं प्रतिपत्त्यानुत्तर्यादि। इति सप्तार्थाः।

तथा हि-बोधिसत्त्वेनाधिमुक्तिचर्याभूमिस्थितेन शक्तिप्रतिष्ठितेन-१. प्रथमं संक्लेशव्यवदानकुशलेन भवितव्यम्। २. ततः कुशलानां धर्माणां यस्य यदावरणं तस्य तद् ज्ञेयम्; तस्याऽप्रहाणाद् विमुक्तेरसम्भवात्। अविज्ञातं च प्रहातुं न शक्यते; दोषादर्शनात्। ३. ततस्तदावरणाद् येनालम्बनेन चित्तं विमुच्यते तत् तत्त्वं वेदितव्यम्। ४. ततस्तेनालम्बनेन तदावरणस्य येन प्रयोगेण क्षयो भवति सा प्रतिपक्षभावना ज्ञेया। ५. ततस्तस्यां प्रतिपक्ष-भावनायां विपक्षहान्या प्रतिपक्षवृद्ध्या चावस्था ज्ञेया गोत्रावस्थादिका। ६. ततो लोकोत्तरधर्माभिमुखीकरणम्। फलानि स्रोतआपन्नफलादीनि वेदितव्यानि। ७. सर्वमप्येतत् सोत्तराच्छ्रावकादिभिः साधारणं बोधिसत्त्वानाम्। बोधिसत्त्वानां तु आनुत्तर्यमसाधारणं सप्तमोऽर्थ आनुत्तर्यम्॥ १॥

उसका आगे इस शास्त्र में विपाकफलादि भेद से पन्द्रह (१५) प्रकार से व्याख्यान किया गया है। ७. जिससे जाया जाय उसे 'यान' (मार्ग) कहते हैं, वही 'यानानुत्तर्य' वह प्रतिपत्त्यानुत्तर्य आदि भेद से त्रिविध रूप से व्याख्यात है। इस तरह इन सात है! अर्थों का संक्षिप्त व्याख्यान समझना चाहिये।]॥ १॥

१. प्रथमो लक्षणपरिच्छेदः

१. अभूत-परिकल्पः

तत्र लक्षणमारभ्याह—

अभूतपरिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।
शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते॥ १॥

केचिद् विरुन्धन्ति—सर्वधर्माः सर्वथा निःस्वभावाः, शशविषाणवदिति। अतः सर्वापवादप्रतिषेधार्थमाह—**अभूतपरिकल्पोऽस्ति**। स्वभावत इति वाक्यशेषः।

नन्वेवं सूत्रविरोधः, 'सर्वधर्माः शून्याः' इति सूत्रे वचनात्? नास्ति विरोधो यस्माद् **द्वयं तत्र न विद्यते**। अभूतपरिकल्पो हि ग्राह्यग्राहकरहितः शून्य उच्यते, न तु सर्वथा निःस्वभावः।

यद्येवम्, द्वयं शशविषाणवत्सर्वथा नास्ति अभूतपरिकल्पश्च स्वभावतोऽस्ति, एवं शून्यताऽभावप्रसङ्गः? नैतदेवम्, यस्मात् **शून्यता विद्यते त्वत्र**। इयमेव हि शून्यता या ग्राह्यग्राहकरहितताऽभूतपरिकल्पे। न शून्यता 'नास्तित्वं' भवति।

यदि अद्वया शून्यता, सा चाभूतपरिकल्पेऽस्ति, तत्कथं वयममुक्ताः? विद्यमाना च कस्मान्न गृह्यते? इति संशयापनयनार्थमाह—**तस्यामपि स विद्यते** इति। यस्मात् शून्यतायामपि अभूतपरिकल्पो विद्यते, तस्माद् भवन्तो न मुक्ताः। अतएव च समलत्वान्न प्रसन्नाऽब्धातुवदवगन्तुं शक्या। न ह्यविशोधितायां मोक्षोऽस्ति। संक्लिष्टा च महता यत्नेन विशोध्यत इति नास्त्ययत्नेन मोक्षः (१)

अथवा—चित्तचैत्तेभ्योऽन्यत्र रूपादयो द्रव्यत्वेन सन्तीति येषां दर्शनं तत्प्रतिषेधार्थमाह—**अभूतपरिकल्पोऽस्तीति**। स एवास्ति द्रव्यतः। नास्ति रूपं तद्व्यतिरिक्तम्; यस्माद् **द्वयं तत्र न** विद्यते। न ह्यभूतपरिकल्पः कस्यचिद् ग्राहकः, नापि केनचिद् गृह्यते। किं तर्हि? ग्राह्यग्राहकत्वरहितं वस्तुमात्रमेव; यतो हि विज्ञानाद् बहिर्न रूपादि गृह्यते, स्वप्नादिवत्। विज्ञानं हि रूपाद्याभासमुत्पद्यते। तस्मान्निरालम्बनमेव स्वप्नादाविवान्यत्रापि स्व-

---

अभूतपरिकल्प—[कुछ स्वयूथ्य सौगतवादी कहते हैं कि सभी धर्म शशविषाण की तरह सर्वथा निःस्वभाव हैं, अतः उनके प्रतिषेध हेतु आचार्य 'लक्षण' की चर्चा आरम्भ करते हुए कहते हैं—] वह तो स्वभावतः अभूतपरिकल्प (ग्राह्यग्राहकविकल्प है।)

यहाँ शङ्का हो सकती है कि तब तो सूत्रविरोध होने लगेगा; क्योंकि सूत्र में भी

बीजपरिपाकादर्थाभासं विज्ञानमुत्पद्यत इत्यवसेयम्। ग्राह्याभावे ग्राहकभावो न युज्यते। यदि तर्हि ग्राह्याभावस्तेन विशुद्ध्यालम्बनाऽभावान् मोक्षाभावः? नैतदेवम्; शून्यता हि विशुद्ध्यालम्बना। सा च ग्राह्यग्राहकरहितता। सा चाभूतपरिकल्पेऽस्तीति न मोक्षाभावः। विद्यमाना किमर्थं न गृह्यते? अभूतपरिकल्पाऽऽवृतत्वान्न गृह्यते; आकाशनैर्मल्यवत्, न त्वसत्त्वादिति। (२)

अथवा—संक्लेशव्यवदानव्यतिरिक्तं लक्षणं नास्ति—इत्यतः संक्लेशव्यवदानलक्षणपरीक्षार्थमाह—**अभूतपरिकल्पोऽस्तीति**। अभूतपरिकल्पस्वभावः संक्लेशः; भ्रान्तिलक्षणत्वात्। स्वात्मन्यविद्यमानेन ग्राह्यग्राहकाऽऽकारेण प्रख्यातेन व्यक्तमस्य भ्रान्तिरूपत्वम्। व्यवदानस्वरूपपरीक्षार्थमाह—**शून्यता विद्यते त्वत्र इति**। व्यवदानं शून्यतास्वभावम्; द्वयाऽभावस्वभावत्वात्। अत्र च शून्यताप्रभावितत्वान् मार्गनिरोधयोरपि ग्रहणं वेदितव्यम्। संक्लेशपक्षादेव व्यवदानपक्षो मार्गयितव्यः, न पुनः पृथक्सत्त्वमस्यास्तीति प्रदर्शनार्थमाह--**अत्र** इति। यदि द्वयं न विद्यते, किमर्थं तदस्तीति लोकभ्रान्तिरिति स्यात् प्रश्नः। तस्मादाह—**तस्यामपि स विद्यते** इति। स इति ग्राह्यग्राहकविकल्पः। अभूतमस्मिन् द्वयं परिकल्प्यतेऽनेन वेत्यभूतपरिकल्पः। अभूतवचनेन यथात्र परिकल्प्यते ग्राह्यग्राहकं न तथेति प्रतिपादयति। परिकल्पवचनेन तु अर्थो यथा परिकल्प्यते तथा न भवतीति प्रतिपादयति। एवमस्य ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्तं लक्षणं परिदीपितं भवति।

कः पुनरसौ अभूतपरिकल्पः? अतीतानागतवर्तमाना हेतुफलभूतास्त्रैधातुका अनादिकालिका निर्वाणपर्यवसानाः संसारानुरूपाश्चित्तचैत्ता अविशेषेणाभूतपरिकल्पः। विशेषस्तु ग्राह्यग्राहकविकल्पः। तत्र ग्राह्यविकल्पोऽर्थसत्त्वप्रतिभासं विज्ञानम्। ग्राहकविकल्प आत्मविज्ञप्तिप्रतिभासम्। द्वयम् ग्राह्यं ग्राहकं च। तत्र ग्राह्यं रूपादि, ग्राहकं चक्षुर्विज्ञानादि। ग्राह्यग्राहकभावरहितता अभूतपरिकल्पस्य शून्यता।

कहा गया है कि 'सभी धर्म शून्य हैं'? आचार्य उत्तर देते हैं कि सूत्रविरोध भी नहीं है; क्योंकि वहाँ द्वय नहीं है।

फिर शङ्का होती है कि द्वय तो शशविषाण की तरह सर्वथा नहीं होता जबकि अभूतपरिकल्प की स्वाभाविकी सत्ता है, यों शून्यताभाव का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा? आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि शून्यता तो वहाँ विद्यमान है ही। शून्यता वही कहलाती है जो अभूतपरिकल्प में ग्राह्यग्राहकरहितता-युक्त हो, न कि शून्यतामात्र (नास्तित्व)।

न खलु अभूतपरिकल्पोऽपि अभावरूपो भवति। यथा रज्जुः शून्या सर्पस्वभावेन तत्स्वभावत्वाभावात् सर्वकालं शून्या, न तु रज्जुस्वभावेन शून्या, तथेहापि। एवं यस्मिन् यन्नास्ति तत् तेन शून्यमिति सम्यगनुपश्यति। कस्मिन् किं नास्ति ? अभूतपरिकल्पे द्वयम्। यत् पुनरिहावशिष्टं तत् सत्। किं पुनरिहावशिष्टम् ? अभूतपरिकल्पः, शून्यता च। तत्राभूतपरिकल्पे द्वयं न विद्यते इति दर्शनादनध्यारोपः। अभूतपरिकल्पः शून्यता चास्तीति दर्शनादनपवादः। अविपरीतशून्यतालक्षणमुद्भावितम्। यच्छून्यं तस्य सद्भावाद्, येन शून्यं तस्य तत्राभावात्। सर्वभावे सर्वाभावे वा नाविपरीतं शून्यतालक्षणम्; शून्यताया एवाभावप्रसङ्गात्। यथा च रज्जुर्मायया वा स्वात्मन्यविद्यमानेन सर्पाकारेण पुरुषादिनेव प्रभासते, तत्र कस्यचिद् ग्राहनिवर्तनार्थं सर्पपुरुषादिना शून्येत्युच्यते; एवमभूतपरिकल्पोऽपि स्वात्मन्यविद्यमानेन ग्राह्यग्राहकाऽऽकारेण प्रख्यायमानो बालानां तद्ग्रहाभिनिवेशत्याजनार्थं द्वयेन शून्य इत्युच्यते ॥ (३) ॥ १ ॥

न शून्यं नापि चाशून्यं तस्मात् सर्वं विधीयते।
सत्त्वादसत्त्वात् सत्त्वाच्च मध्यमा प्रतिपच्च सा[1] ॥ २ ॥

हेतुप्रत्ययप्रतिबद्धात्मलाभत्वाद् अभूतपरिकल्पः संस्कृतम्, शून्यता पुनस्तन्निरपेक्षत्वाद् असंस्कृतं विधीयते प्रज्ञापारमितादिषु। **सर्वमिति** संस्कृतम-

---

अब शङ्का होती है कि यदि अद्वय ही शून्यता है और वह अभूतपरिकल्प में भी है तब हम भी अमुक्त कैसे रह जाँयगें ! और दूसरी शङ्का यह है कि यदि वह विद्यमान है तो ग्रहण क्यों नहीं होती ? इस संशय को दूर करने के लिए आचार्य कहते हैं—उसमें भी वह विद्यमान है। क्योंकि शून्यता में भी अभूतपरिकल्प रहता है, अतः विना प्रयास के मुक्ति कैसी ! अतः उस शून्यता के समल होने के कारण, वह शुद्ध (निर्मल) जल की तरह बिना प्रयास के अवगत नहीं हो सकती। उसको प्रयत्न द्वारा शोधित किये विना मोक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि यह जब तक संक्लिष्ट है तब तक क्लेशावरण के क्षय के विना मोक्ष की आशा ही कैसे की जा सकती है ! ॥ १ ॥

[अब आचार्य अभूतपरिकल्प की सल्लक्षणता तथा असल्लक्षणता बता रहे हैं—] सभी संस्कृत पदार्थ (धर्म) प्रज्ञापारमितादि की साधना में न शून्य हैं, न अशून्य ही। यहाँ यह अभूतपरिकल्प तो स्वकीय आत्मलाभ के हेतुप्रत्यय से प्रतिबद्ध होने

---

१. कारिकेयं क्वचिदन्यस्मिन् पूर्वसंस्करणेऽन्यथाप्युपलभ्यते—
"न शून्यं नापि चाशून्यं सर्वं सदसल्लक्षणम्।
सत्त्वादभूतकल्पस्य द्वयासत्त्वाच्च देशितम्" ॥ इति।

संस्कृतं च। अभूतपरिकल्पात्मत्वेन संस्कृतं न शून्यम्, ग्राह्य-ग्राहकात्मना च शून्यम्। एवमसंस्कृतमपि धर्मतारूपेण न शून्यम्, द्वयेन च स्वरूपतः शून्यम्॥ २॥

एवमभूतपरिकल्पस्य सल्लक्षणमसल्लक्षणं च ख्यापयित्वा इदानीं स्वलक्षणं ख्यापयति--

अर्थ-सत्त्वाऽऽत्म-विज्ञप्ति-प्रतिभासं प्रजायते।
विज्ञानं. नास्ति चास्यार्थस्तदभावात् तदप्यसत्॥ ३॥

विज्ञानस्वभावोऽभूतपरिकल्पः। तच्च विज्ञानं ससम्प्रयोगमिहाभिप्रेतम्। ग्राह्यग्राहकाभिनिवेश एव अर्थसत्त्वादिप्रतिभासनिबन्धनः। **नास्ति चास्यार्थस्तदभावात् तदप्यसत्।** तत्र अर्थ-सत्त्व-प्रतिभासमालयविज्ञानं ससम्प्रयोगम्। तच्च विपाकत्वाद् अव्याकृतमेव। आत्मप्रतिभासं क्लिष्टं मनः ससम्प्रयोगम्। तच्च निवृताव्याकृतम्। विज्ञप्तिप्रतिभासं कुशलाकुशलाव्याकृतं ससम्प्रयोगं चक्षुर्विज्ञानादिषट्कम्। तदेतानि अर्थसत्त्वात्मविज्ञप्तिप्रतिभासानि अष्टौ विज्ञानानि ससम्प्रयोगाणि समुदयसत्यसंगृहीतात् सहकारिप्रत्ययापेक्षाद् आलयविज्ञानाद् यथासम्भवं पञ्चगतिषु प्रभवन्ति। कुशलाकुशलाव्याकृतधर्मवासनाभूतोऽस्ति कश्चिद् विशेष आलयविज्ञानस्य, यदाधिपत्येन परस्परभिन्नाभासं विज्ञानं प्रजायते।

कथमसत्यर्थादौ विज्ञानं तदाभासमुत्पद्यते? नहि पुरुषेऽसति स्थाणुः पुरुषाभासो भवति? नैष दोषः; अर्थाभासं हि विज्ञानं कृतवतां विज्ञानात् पृथग्भूतार्थसद्भावेऽभिनिवेशः तैमिरिकाणां केशोण्डुकादिष्विव। तस्मात् तदभिनिवेशत्याजनार्थमुच्यते--विज्ञानमेवेदमर्थाभासमुत्पद्यते इति। एवं चाष्टविज्ञानवस्तुकः परतन्त्रोऽभूतपरिकल्प इति।

१. **अर्थप्रतिभासं** रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्पर्श-धर्मस्वरूपेण प्रतिभासम्; तदाकारेणोत्पन्नत्वात्। २. **सत्त्वप्रतिभासं** यत् पञ्चेन्द्रियत्वेन स्वपरसन्तानयोः प्रतिभास इत्यधिकृत्य। अधिकशक्तिस्थानत्वात् पञ्चस्विन्द्रियेषु सत्त्वाख्या। तैस्तेषु वा सज्जत इति सत्त्वः। तदाकारोत्पत्तितामुपादाय विज्ञानं तदाभासम्। ३. **आत्मप्रतिभासं** चात्ममोहादिसम्प्रयुक्तत्वात् क्लिष्टं मनः, क्लिष्टस्य मनस आत्ममोहेनात्मदृष्टयाऽऽत्मतृष्णया अस्मिमानेन च नित्यं

के कारण सल्लक्षण अतएव संस्कृत है और शून्यता, हेतु-प्रत्यय से निरपेक्ष होने के कारण, असल्लक्षण अतएव असंस्कृत है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभूतपरिकल्पात्मा के कारण संस्कृत धर्म शून्य नहीं हैं तथा ग्राह्य-ग्राहकात्मा के कारण शून्य हैं। इसी तरह असंस्कृत धर्म भी धर्मतारूप से शून्य नहीं है, परन्तु द्वय होने के कारण स्वरूपतः शून्य है यही मध्यम मार्ग है--ऐसी भगवान् की देशना है॥ २॥

[यों, आचार्य अभूतपरिकल्प का सल्लक्षणत्व तथा असल्लक्षणत्व बता कर अब उसका स्वलक्षण कह रहे हैं—] अभूतपरिकल्प विज्ञानस्वभाव है। वह विज्ञान

सम्प्रयुक्तत्वात्; तेषां चात्मालम्बनत्वाद् युक्तं क्लिष्टस्य मनसः आत्मप्रतिभासत्वम्। ४. **विज्ञप्तिप्रतिभासं** षड् विज्ञानानि। विषयग्राहकरूपेण प्रख्यानात् तदाकारोत्पत्तितामुपादाय विज्ञप्तिप्रतिभासम्।

नास्ति चास्यार्थं इति चतुष्टयस्याऽऽकारस्येति। अर्थसत्त्वप्रतिभासयोरनाकारत्वात् आत्मविज्ञप्तिप्रतिभासयोश्च वितथप्रतिभासत्वात्। अर्थसत्त्वप्रतिभासयोर्ग्राह्यरूपेण प्रख्यानाद् वितथप्रतिभासत्वासम्भवाद् अनाकारत्वमेवार्थाभावे कारणम्। न त्वन्ययोर्ग्राहकरूपेण प्रख्यानादनाकारः। वितथप्रतिभासत्वमेवार्थाभावेऽत्र कारणमुक्तम्।

आकारो हि आलम्बनस्यानित्यादिरूपेण ग्रहणप्रकारः। स चानयोर्नास्ति; ग्राह्यरूपेण प्रख्यानात्। अतोऽनाकारत्वादग्राहकत्वादित्यर्थः। आलम्बनसम्वेदनं वा आकारः, तच्च तयोर्नास्तीत्युपलब्ध्यभावादनाकारः। एवं सति लोकशास्त्रप्रसिद्धेभ्यो रूपादिभ्यश्च विज्ञानस्य कोऽसावात्मातिशयो यतस्तान् निराकृत्य तैरभिन्नरूपं विज्ञानं गृह्यते; तद्व्यतिरिक्तस्यार्थस्यासम्भवात्?

एतदेवं व्यवस्थाप्यते—यस्माद् भिन्नार्थस्वरूपमसन्नपि चित्तसन्तानप्रतिनियमेन स्वबीजात् प्रत्येकात्मगृहीतं भिन्नार्थादिप्रतिभासं विज्ञानं प्रसूयते। तथा हि प्रेता अपः पूयपुरीषमूत्रादिपूर्णाः पश्यन्ति, मनुष्यादयः पुनः स्वच्छशीतलोदकपरिपूर्णा उपलभन्ते, योगिनश्चाशुभमनसिकाराद्यभ्यस्ता निरन्तरं पृथिवीं कङ्कालपूर्णां पश्यन्ति। तस्मात् तदर्थमन्तरेण सर्वमर्थसत्त्वादिनिर्भासं विज्ञानमेव प्रसूयत इति निश्चीयते।

ग्राह्याभावे द्वयोरात्मविज्ञप्तिप्रतिभासयोर्ग्राहकाकारेण प्रख्यानाद् वितथप्रतिभासत्वम्। अथवा यथा विज्ञानेनार्थः परिकल्प्यते, तथाऽर्थस्याऽभाव इति वितथालम्बनत्वाद् वितथप्रतिभासता। तथा हि—विज्ञप्तिरपि विज्ञप्त्यन्तरपरिकल्पितेनात्मना शून्येति सिद्धान्तः। अतश्चार्थसत्त्वविज्ञानस्येव आत्मविज्ञप्तिप्रतिभासस्यापि अर्थाभावः। अर्थाभावात् तद्विज्ञानमसत्। विजानातीति विज्ञानम्। ग्राह्याभावे विज्ञातृत्वमप्ययुक्तम्। तस्मादर्थाभावाद् विज्ञातृत्वेन विज्ञानमसत्, न त्वर्थसत्त्वात्मविज्ञप्तिप्रतिभासतया। तदसत्त्वे हि सर्वथाऽभावप्रसङ्गः; तद्व्यतिरेकेण विज्ञानस्वभावानिर्देशनात्॥ ३॥

यहाँ सम्प्रयोग (मिलन) सहित अभिप्रेत है। सिद्धान्त रूप से विज्ञान भी विज्ञानान्तर से परिकल्पित आत्मा से शून्य है। अतः अर्थसत्त्वविज्ञान की तरह आत्मविज्ञानप्रतिभास का भी अर्थाभाव है। और अर्थाभाव से वह ग्राहकविज्ञान भी असत् है।

१. यहाँ 'अर्थप्रतिभास' रूप, शब्दादि स्वरूप से प्रतिभासित को कहते हैं। २. 'सत्त्वप्रतिभास' उसे कहते हैं जो पाँचों इन्द्रियों के रूप में स्व एवं पर सन्तान में प्रतिभासित हो। ३. और 'आत्मप्रतिभास' आत्ममोहादि के सम्प्रयोग से आत्ममोह, आत्मदृष्टि, आत्मतृष्णा और अस्मिमान से नित्य सम्प्रयुक्त होने से क्लिष्ट मन कहलाता है। एवं ४. 'विज्ञप्तिप्रतिभास' हैं छह विज्ञान॥ ३॥

एवं ग्राह्यग्राहकाभावात् तत्प्रतिभासविज्ञानसद्भावाच्च यत् पूर्वं प्रतिज्ञातम्—'अभूतपरिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते' इति, तत् सिद्धमिति प्रदर्शयन्नाह—

अभूतपरिकल्पत्वं सिद्धमस्य भवत्यतः ।
न तथा सर्वथाभावात् तत्क्षयान्मुक्तिरिष्यते ॥ ४ ॥

अभूतपरिकल्पत्वं च तेषां चतुर्णां विज्ञानानां **सिद्धम्** । न तथास्तित्वान्न च सर्वथा नास्तित्वात् । तत्र चतुःप्रकारेऽपि अनाकारत्वाद् वितथाकारत्वाच्च यथासम्भवं ग्राहकत्वाभावः । विज्ञप्त्यन्तरपरिकल्पितेनात्मना सर्वस्य शून्यत्वाद् ग्राह्यत्वाभावः । न तु सर्वथाभावः; भ्रान्तिमात्रोत्पादात् । स्वयमसदपि यदाकारेण प्रतिभासते, सा भ्रान्तिर्मायावत् । भ्रान्तिविज्ञानस्य सद्भावान्न सर्वथाऽभावः ।

यदि तस्य सर्वथाभाव एवेष्यते, न बन्धो न मोक्ष इति; संक्लेशव्यवदानापवाददोषः स्यात् । यदि पुनरेवं परमार्थतः स्याद्, एवं सति नित्यः संक्लेशः स्यात् । तथा च निर्वाणाभावः ।

एवं भ्रान्तिमात्रस्याप्यभावे संक्लेशाभावो नित्यं च व्यवदानं प्रसज्यते । एवं चोभयथापि मोक्षार्थिनां व्यर्थो यत्नः स्यात् । अतोऽभूतपरिकल्पोऽस्ति, द्वयं च न विद्यते—इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् ॥ ४ ॥

[इस तरह ग्राह्य-ग्राहकाभाव होने से और तत्प्रतिभासविज्ञान का सद्भाव होने से जो पहले प्रतिज्ञा की गयी थी कि 'अभूतपरिकल्प है, परन्तु वहाँ द्वय विद्यमान नहीं है', यह सिद्ध हो गया—ऐसा दिखाने के लिये आचार्य कहते हैं —] उन चारों विज्ञानों का अभूतपरिकल्पत्व न तथा सर्वथा सत् एवं न सर्वथा शून्य भेद से सिद्ध हो गया। वहाँ चार प्रकार के विज्ञान में निराकार तथा वितथाकार होने से यथासम्भव ग्राहकत्व का अभाव होगा और विज्ञानान्तर से परिकल्पित आत्मा से सभी के शून्य होने के कारण ग्राह्यत्व का अभाव होगा। भ्रान्तिमात्र के उत्पाद से सर्वथा अभाव नहीं है। स्वयम् असत् होते हुए भी जिस आकार से वह प्रतिभासित होता है वह, माया की तरह, भ्रान्ति ही है। वहाँ भी भ्रान्तिविज्ञान तो विद्यमान रहता ही है, अतः सर्वथा अभाव नहीं है। यदि उसका सर्वथा अभाव मानोगे और बन्ध-मोक्ष नहीं मानोगे तो क्लेशविशुद्धि (क्लेशव्यवदान) कैसे होगी ! और परमार्थतः सत् ही मानोगे तो क्लेशों में नित्यता दोष आने लगेगा। फिर निर्वाण कैसे होगा ! अतः अभूतपरिकल्प वाला हमारा सिद्धान्त स्वीकार किया ही जाना चाहिए ॥ ४ ॥

इदानीं सङ्ग्रहलक्षणं ख्यापयति—

कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च।
अर्थादभूतकल्पाच्च द्वयाभावाच्च देशितः॥ ५॥

१. ग्राह्यं ग्राहकं च स्वभावशून्यत्वादभूतमप्यस्तीति परिकल्प्यते इति परिकल्पित इत्युच्यते। न पुनस्तत्त्वतोऽसन्नपि व्यवहारतोऽस्तीति स्वभाव उच्यते।

२. परतन्त्रः परवशः; हेतुप्रत्ययप्रतिबद्धजन्मकत्वात्। आह च—

'परतन्त्रस्वभावो हि शुद्धलौकिकगोचरः' इति।

३. याऽभूतपरिकल्पस्य द्वयरहितता सा परिनिष्पन्नः स्वभावः। तस्याऽसंस्कृतत्वान्निर्विकारत्वेन परिनिष्पन्नत्वात्। आह च—

'कल्पितेन स्वभावेन तस्य यात्यन्तशून्यता।
स्वभावः परिनिष्पन्नोऽविकल्पज्ञानगोचरः॥' इति॥

अर्थः परिकल्पितस्वभावः। अर्थोऽत्र रूपादयश्चक्षुरादय आत्मा विज्ञप्तयश्च। स च कल्पितेन स्वभावेनाऽभूतपरिकल्पे नास्तीत्यतः परिकल्पितस्वभाव उच्यते। अभूतपरिकल्पो यः स परतन्त्रस्वभावः। परैर्हेतुप्रत्ययैस्तन्त्र्यते जायते न तु स्वयं भवतीति परतन्त्रः। ग्राह्यग्राहकाभावः परिनिष्पन्नस्वभावः। द्वयरहितता ग्राह्यग्राहकाभाव उक्ता, न तु द्वयस्याभावमात्रम्।

एवं चाभूतपरिकल्प एव हेतुप्रत्ययपारतन्त्र्यात् परतन्त्रः, स एव ग्राह्यग्राहकरूपेण स्वात्मन्यविद्यमानेन प्रख्यानात् परिकल्पितः, स एव च ग्राह्य-

---

[अब आचार्य इसी का संग्रहलक्षण बतला रहे हैं—] वह अभूतपरिकल्प १. परिकल्पित, २. परतन्त्र एवं ३. परिनिष्पन्न भेद से तीन प्रकार का है। कहने का तात्पर्य है—१. अर्थ परिकल्पित स्वभाव वाला होता है। 'अर्थ' शब्द से यहाँ रूप आदि (विषय), चक्षुरादि (इन्द्रियाँ), आत्मा और विज्ञान का ग्रहण होता है। वह (अर्थ) कल्पित स्वभाव होने के कारण अभूतपरिकल्प में नहीं है, अतः वह 'परिकल्पितस्वभाव' है। २. दूसरे हेतु-प्रत्ययों से जो उत्पन्न होता हो परन्तु स्वयं जिसकी स्वतन्त्र सत्ता न हो उसे 'परतन्त्र' कहते हैं। ३. ग्राह्य-ग्राहकाभाव भी परिनिष्पन्नस्वभाव है। ग्राह्यग्राहकाभाव में द्वयरहिततामात्र होती है, न कि द्वय का अभावमात्र। इस तरह अभूतपरिकल्प ही हेतुप्रत्यय की पराधीनता से 'परतन्त्र' भी है, वही ग्राह्य-ग्राहक रूप से स्वयं में अविद्यमान होने से 'परिकल्पित' है और ग्राह्यग्राहकरहितता के कारण 'परिनिष्पन्न' कहलाता है। इस तरह इस अभूतपरिकल्प

ग्राहकरहिततया परिनिष्पन्नः। एवमभूतपरिकल्पे त्रयः स्वभावाः संगृहीताः। एवं कृत्वाऽभूतपरिकल्पस्य परिज्ञेयम्, परिज्ञाय प्रहातव्यम्, परिहाय साक्षात्कर्तव्यं च वस्तु प्रदर्शितं भवति ॥ ५ ॥

उपायलक्षणं दर्शयति—

उपलब्धिं समाश्रित्याऽनुपलब्धिः प्रजायते।
निश्रित्याऽनुपलब्धिं चानुपलब्धिः प्रजायते ॥ ६ ॥

विज्ञप्तिमात्रतोपलब्धिमाश्रित्य अर्थानुपलब्धिर्जायते। स्वबीजपरिपाकाद् रूपाद्याभासं विज्ञानं प्रवर्तते, न तु रूपादिकोऽर्थोऽस्तीति। एवं ग्राहकोपलब्धिं समाश्रित्य ग्राह्यानुपलब्धिं प्रविशति। विषयानुपलब्धिमाश्रित्य विज्ञप्तेरप्यनुपलब्धिर्जायते, यतो न ग्राह्याभावे ग्राहकत्वं युज्यते; ग्राह्यत्वापेक्षया तद्ग्राहकस्य व्यवस्थापनात्। एवं ग्राह्यग्राहकयोः परिकल्पितरूपयोरनुपलब्धिं प्रविशति, न ग्राह्यग्राहकरहितस्याऽभूतपरिकल्पस्येति दर्शनं भवति ॥ ६ ॥

उपलब्धेस्ततः सिद्धा नोपलब्धिस्वभावता।
तस्माच्च समता ज्ञेया नोपलम्भोपलम्भयोः ॥ ७ ॥

उपलभ्यार्थभावे उपलब्ध्यभावः। न तु तया किञ्चिदुपलभ्यते; अर्थाभावात्। यस्मादुपलब्धिरनुपलब्धिस्वभावा तस्मात् समता निर्विकल्पतया। अतः परमार्थतोऽनुपलब्धिस्वभावाऽपि लोके शास्त्रे च प्रतीतत्वात् सतीति

में ही इन तीनों स्वभावों का संग्रह कर दिया गया है। यों, इस अभूतपरिकल्प का ही परिज्ञान (जानना), जान कर उसका प्रहाण (नाश), तथा प्रहाण के बाद उस स्थिति का साक्षात्कार—ये तीनों बातें अन्तर्भूत हो गयीं ॥ ५ ॥

[अब आचार्य इस असल्लक्षणानुप्रवेश का उपाय-लक्षण बताते हैं—] विज्ञप्तिमात्रता की उपलब्धि के आश्रय से अर्थानुपलब्धि का जनन (प्रवृत्ति) होता है। स्वबीज के परिपाक से ही रूपादि के आभास वाला विज्ञान प्रवृत्त होता है, न कि रूपादि की परमार्थतः स्वतन्त्र सत्ता है। इसी तरह ग्राहकोपलब्धि के आश्रय से ग्राह्यानुपलब्धि का जनन होता है। विषयानुपलब्धि के सहारे से विज्ञप्ति की अनुपलब्धि होती है; क्योंकि ग्राह्याभाव में ग्राहकत्व संयुक्त नहीं होता, कारण यह है कि ग्राह्यत्व की अपेक्षा से उसके ग्राहक की व्यवस्था बनती है। इस तरह, परिकल्पितरूप ग्राह्य-ग्राहक में अनुपलब्धि प्रविष्ट होती है, न कि ग्राह्य-ग्राहकरहित अभूतपरिकल्प की अनुपलब्धि—यह सिद्धान्त स्थिर हो गया ॥ ६ ॥

प्राप्तव्य अर्थ के अभाव में उपलब्धि का अभाव माना जाता है, कारण कि अर्थाभाव होने से उससे कुछ उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि यह उपलब्धि अनु-

नास्ति विरोधः। समारोपापवादनिरपेक्षेण प्रत्यात्मदर्शनेन समता ज्ञेया।
आह च—

'नापनेयमतः किञ्चित् प्रक्षेप्तव्यं न किञ्चन।
द्रष्टव्यं भूततो भूतं भूतदर्शी विमुच्यते॥' इति॥ ७॥

प्रभेदलक्षणं पर्यायलक्षणं च ख्यापयति—

अभूतपरिकल्पस्तु चित्तचैत्तास्त्रिधातुकाः।
तत्रार्थदृष्टिर्विज्ञानं तद्विशेषे तु चैतसाः॥ ८॥

काम-रूप-आरूप्यधातुभेदेन त्रिधातुकाश्चित्तचैत्ता अभूतपरिकल्पः। ये सत्त्वा नारकाद्या विंशतिप्रकारास्ते कामधातुः, ये सप्तदशप्रकारा ब्रह्मकायिकाद्यास्ते रूपधातुः, ये आकाशानन्त्यायतनाद्याश्चतुःप्रकारास्ते आरूप्यधातुः।

अन्ये तु— अप्रहीणकामरागा अविधूतरूपसंज्ञाः कामावचराः **कामधातुः**, प्रहीणकामरागा अविधूतरूपसंज्ञा रूपावचरा **रूपधातुः**, प्रहीणकामरागा विधूतरूपसंज्ञाश्चारूप्यावचराः **आरूप्यधातुः**।

अपरे तु—नित्यं विक्षिप्ताश्चैतसिकदुःखप्रकाराः **कामधातुः**, समाहिता विगतचैतसिकदुःखप्रकारा **रूपधातुः**; समाहिताः प्रहीणसुखदुःखप्रकारा **आरूप्यधातुः**।

पलब्धि स्वभाव वाली है अतः निर्विकल्पक होने से इसे 'समता' कहा जा सकता है। यों, यह उपलब्धि परमार्थतः अनुपलब्धिस्वभाव होने के कारण शास्त्र एवं लोक में सद्रूपेण प्रतीत होते हुए भी कोई विरोध नहीं है, अतः समारोपापवाद-निरपेक्ष प्रत्यात्मदर्शन के कारण इसे 'समता' ही समझना चाहिए॥ ७॥

[अब आचार्य इस अभूतपरिकल्प का प्रभेदलक्षण एवं पर्यायलक्षण बता रहे हैं—] कामधातु, रूपधातु और आरूप्यधातु भेद से त्रैधातुक चित्त-चैत्त धर्म ही अभूतपरिकल्प हैं। नारकादि बीस प्रकार के सत्त्व 'कामधातु' कहलाते हैं, ब्रह्मकायिकादि देव 'रूपधातु' कहलाते हैं, और चतुर्विध आकाशानन्त्यायतनादि 'आरूप्यधातु' कहलाते हैं। अन्य दार्शनिक—जिनके कामराग प्रहीण न हुए हों, रूपसंज्ञाएँ जिनकी विधूत (विनष्ट) न हुई हों ऐसे कामावचर सत्त्वों को 'कामधातु', प्रहीणकामराग तथा अविधूतरूपसंज्ञक रूपावचर सत्त्वों को 'रूपधातु', एवं प्रहीणकामराग तथा विधूतरूपसंज्ञक आरूप्यावचर सत्त्वों को 'आरूप्यधातु' मानते हैं। और कुछ अन्य दार्शनिक—नित्य विक्षिप्त, चैतसिक दुःखप्रकार वाले सत्त्वों को 'कामधातु', समाधिनिष्ठ, विनष्ट चैतसिक दुःखप्रकार वाले सत्त्वों को 'रूपधातु'; एवं समाहितचित्त, प्रहीण सुख-दुःख प्रकार वाले सत्त्वों को 'आरूप्यधातु' मानते हैं।

तत्राऽर्थमात्रदृष्टिर्विज्ञानमिति। वस्तुस्वरूपमात्रोपलब्धिरित्यर्थः। **अर्थविशेषदृष्टिश्चैतसा** वेदनासंज्ञादय इति। तेन तेन विशेषरूपेण तत्राभिप्रवृत्तेः ॥

प्रवृत्तिलक्षणं दर्शयति--

एकं प्रत्ययविज्ञानं द्वितीयमौपभोगिकम्।
उपभोग-परिच्छेद-प्रेरकास्तत्र चैतसाः ॥ ९ ॥

एकमित्यालयविज्ञानम्। शेषाणां सप्तानां विज्ञानानां हेतुप्रत्ययभावेन हेतुरिति प्रत्ययविज्ञानम्। आलीयन्ते सर्वसास्रवधर्मास्तत्र फलभावेन, तच्च तेषु हेतुभावेनेत्यालयः। **अभिधर्मसूत्रगाथायाम्**—

"सर्वधर्मा हि आलीना विज्ञाने तेषु तत् तथा।
अन्योन्यफलभावेन हेतुभावेन सर्वदा।" इति।

द्वितीयं विज्ञानं तत्फलं सप्तविधं प्रवृत्तिविज्ञानम्। उपभोगप्रयोजनत्वाद् **औपभोगिकम्**। तत्र विज्ञाने ये चैतसास्तेऽपि तत्फलम्। प्रवृत्तिविज्ञानस्याधिपतिप्रत्ययो न हेतुप्रत्यय इति नास्ति प्रवृत्तिविज्ञानस्य प्रत्ययत्वप्रसङ्गः।

उपभोगो वेदना। सुखा, दुःखा, असुखदुःखा—इति त्रिप्रकारा। उपभुज्यते इति उपभोगः, अनुभूयते इत्यर्थः। अतो बालास्तत्संवेदनया विषयेषु सज्यन्ते। अर्थोपलब्धिश्च न विज्ञानादन्या।

वहाँ विज्ञान वस्तुस्वरूपमात्रोपलब्धि वाला है। और वेदना-संज्ञा आदि चैतस धर्म, वहाँ उस उस विभिन्न रूप से प्रवृत्त होने के कारण, अर्थविशेषदृष्टि कहलाते हैं ॥ ८ ॥

[अब आचार्य उस अभूतपरिकल्प का प्रवृत्तिप्रकार बता रहे हैं—] १. पहला आलयविज्ञान अवशिष्ट सात विज्ञानों का हेतुप्रत्ययसम्बन्ध से हेतु है, अतः उसे 'प्रत्ययविज्ञान' कहते हैं। क्योंकि सभी सास्रवधर्म वहाँ फलभाव से आलीन रहते हैं और वह उनमें हेतुभाव से आलीन रहता है अतः उसे 'आलयविज्ञान' कहते हैं। २. दूसरा प्रवृत्तिविज्ञान और उसका सप्तविध फल उपभोग प्रयोजन होने से 'औपभोगिक' कहलाता है। उस विज्ञान में जो चैतस धर्म हैं वे भी उसके फल हैं। प्रवृत्तिविज्ञान का अधिपतिप्रत्यय हेतुप्रत्यय नहीं है, अतः प्रवृत्तिविज्ञान का 'प्रेरक' प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता।

यहाँ 'उपभोग' कहते हैं सुख, दुःख एवं असुखादुःख—यों तीन प्रकार की वेदना को। उपभोग या वेदना का अर्थ है 'अनुभव'। अतः पृथग्जन (बाल) उन की संवेदना से उन उन विषयों में आसक्त होते हैं। अर्थोपलब्धि भी विज्ञान

परिच्छेदः परिभोगः संज्ञेत्यर्थः।

उपभोगे संज्ञायां च विज्ञानप्रवर्तकाः संस्काराश्चित्तमनस्कारादयः **प्रेरकाः** ॥ ९ ॥

इदानीं सांक्लेशलक्षणं दर्शयति—

छादनाद्रोपणाच्चैव नयनात् सम्परिग्रहात्।
पूरणात् त्रिपरिच्छेदादुपभोगाच्च कर्षणात् ॥ १० ॥

निबन्धनादाभिमुख्याद् दुःखतः क्लिश्यते जगत्।
द्वेधा त्रेधा च संक्लेशः सप्तधाऽभूतकल्पनात् ॥ ११ ॥

अत्राऽयं प्रवृत्तिपक्षमधिकृत्य द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादो दर्शितः। तत्र—**छादनादिति** अविद्यया यथाभूतदर्शनविबन्धनात्। **रोपणादिति** संस्कारैर्विज्ञानकर्मवासनायाः रोपणात्। पुनर्भवमभिसंस्करोतीति संस्कारः। तच्च अविद्याधिपत्यात् पुनर्भवं संस्कर्तुं समर्थो भवति, न तु सत्तामात्रेण। **नयनादिति** विज्ञानेनोत्पत्तिस्थानप्रापणात्। विज्ञानशब्देनेहाऽऽलयविज्ञानमभिप्रेतम्, न तु प्रवृत्तिविज्ञानम्। कर्मपरिभावितेन विज्ञानेन सन्तानेन प्रवृत्त्या च्युतिस्थानादुपपत्तिस्थाने पुनर्भवबीजभूताया वासनायाः प्रापणं नयनम्। **सम्परिग्रहादिति** नामरूपेणाऽऽत्मभावस्येति। नामरूपं हि पञ्च स्कन्धाः। ते

के अतिरिक्त कुछ नहीं होती। २. 'परिच्छेद' कहते हैं परिभोग (संज्ञा) को। ३. उपभोग और संज्ञा में विज्ञानप्रवर्त्तक चित्तमनस्कारादि संस्कार 'प्रेरक' कहलाते हैं ॥ ९ ॥

[अब आचार्य तीन कारिकाओं से 'संक्लेशलक्षण' (प्रतीत्यसमुत्पाद) का व्याख्यान कर रहे हैं—] संक्लेशलक्षण प्रतीत्यसमुत्पाद व्यवदान (शुद्धि) का विपक्ष भाव है। समग्र संसार इन अधोलिखित ११ (एकादश) हेतुओं से दुःखाभिभूत रहता है। जैसे—१. छादन (अविद्या द्वारा यथाभूत दर्शन के निबन्धन) से। २. रोपण (संस्कारों द्वारा विज्ञान-कर्मवासना के रोपण) से। 'संस्कार' कहते पुनर्भव के अभिसंस्करण को। और वह अविद्या के आधिपत्य से ही पुनर्भव को अभिसंस्कृत करने में समर्थ हो सकता है, केवल सत्तामात्र से नहीं! ३. नियमन (विज्ञान द्वारा उत्पत्तिस्थान तक पहुँचाने) से। (यहाँ 'विज्ञान' शब्द से 'आलयविज्ञान' अभिप्रेत है, न कि प्रवृत्तिविज्ञान।) 'नयन' कहते हैं—कर्मपरिभावित विज्ञान द्वारा सन्तानप्रवृत्ति के आश्रय से च्युतिस्थान से उत्पत्तिस्थान में पुनर्भव की बीजभूत वासना का पहुँचाना। ४. सम्परिग्रह (नाम-रूप द्वारा आत्मभाव का परिग्रह) से। (नाम-रूप से यहाँ जिनमें षडायतन उत्पन्न न हुए हों ऐसे पञ्च

चाऽनुत्पन्नषडायतनाः। **पूरणादिति** आश्रयपरिपूरितात् षडायतनात्। **त्रिपरिच्छेदादिति** इन्द्रियविषयविज्ञानसन्निपातात् इन्द्रियस्य सुखादिवेदनोत्पत्त्यनुकूलो यस्त्रिप्रकारो विकारस्तत्परिच्छेदः स्पर्शः। **उपभोगादिति** वेदनया, वेदनानुभवादित्यर्थः। **कर्षणादिति** तृष्णया कर्माक्षिप्तस्य पुनर्भवस्य समुपस्थापनात्। **निबन्धनादिति** उपादानैर्विज्ञानस्योत्पत्त्यनुकूलेषु कामादिषु निबन्धनात्। **आभिमुख्यादिति** भवेन कृतस्य कर्मणः पुनर्भवविपाकदानेऽभिमुखीकरणात्। **दुःखत** इति जात्या जरामरणेन च।

क्लिश्यते जगत् इति जातिजराव्याधिमरणादिभिस्त्रैधातुके क्षणपरम्परया आजवञ्जवीभावेन पीड्यते। एवं संक्लेशलक्षणः प्रतीत्यसमुत्पादो व्यवदानविपक्षमुपैति ॥ १०-११ ॥

द्विधा हेतुफलाभ्याञ्च क्लेशकर्मभवैस्त्रिधा।
विपर्यासादिहेतुत्वात् संक्लेशः सप्तधा पुनः[1] ॥ १२ ॥

द्विधा संक्लेशः कारणभेदकृतः। हेतुसंक्लेशः क्लेशकर्मस्वरूपैरङ्गैः फलसंक्लेशश्च शेषैरङ्गैरिति।

त्रिधा संक्लेशः--१. क्लेशसंक्लेशः अविद्यातृष्णोपादानानीति त्रयाणां

स्कन्धों का ग्रहण करना चाहिए।) ५. पूरण (आश्रयपरिपूरित षडायतन) से। ६. त्रिपरिच्छेद से। अर्थात् इन्द्रिय, विषय और विज्ञान-इन तीनों के सन्निपात से इन्द्रिय का सुखादिवेदनोत्पत्त्यनुकूल त्रिविध विकार के परिच्छेद (स्पर्श) से। ७. उपभोग (वेदना-अनुभव) से। ८. कर्षण (तृष्णा द्वारा कर्म से आक्षिप्त पुनर्भव के समुपस्थापन) से। ९. निबन्धन (उपादानों द्वारा विज्ञान के उत्पत्त्यनुकूल कामभोगों में निबन्धन) से। १०. आभिमुख्य (भव द्वारा कृत कर्म के पुनर्भव विपाक के दान में अभिमुखीकरण; और ११. दुःख (जाति, जरा एवं मरण— इन त्रिविध दुःखों) से। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव जाति-जरा-व्याधि-मरणादिक से इस त्रैधातुक (शरीर) में क्षणपरम्परा से निरन्तर पीड़ित रहता है। यों यह संक्लेशलक्षण प्रतीत्यसमुत्पाद व्यवदान का विपक्ष कहलाता है ॥ १०-११ ॥

यह संक्लेश कारणभेद से दो प्रकार का भी होता है, तीन प्रकार का भी, और सात प्रकार का भी।

दो प्रकार का जैसे—१. हेतुसंक्लेश (क्लेशकर्मस्वरूप अङ्गों से) एवं २. फलसंक्लेश (अवशिष्ट अङ्गों से)। तीन प्रकार जैसे—१. क्लेशसंक्लेश (अविद्या-तृष्णा और उपादान- इन तीनों के ही क्लेशात्मक होने से।) और २. कर्मसंक्लेश।

---

१. भाष्ये एषा कारिका न व्याख्याता इत्यस्याः कारिकात्वे सन्देहः।

क्लेशात्मकत्वात्, २. कर्मसंक्लेशः संस्कारा भवश्चेत्युभयोरपि कर्मात्मकत्वात्—स्वरूपावस्थं कर्म संस्कारो बीजावस्थं भवः; ३. जन्मसंक्लेशः शेषाण्यङ्गानि; तेषां जन्मसंगृहीतत्वादिति।

पुनः स एव प्रतीत्यसमुत्पादः संक्लेशः सप्तधेति; सप्तविधहेतुत्वात्। १. विपर्यासहेतुरविद्या। २. आक्षेपहेतुः संस्काराः। ३. उपनयनहेतुर्विज्ञानम्। ४. परिग्रहहेतुर्नामरूपषडायतने। ५. उपभोगहेतुः स्पर्शवेदने। ६. आकर्षणहेतुस्तृष्णोपादानभवाः। ७. उद्वेगहेतुर्जातिजरामरणानि। एष सर्वः संक्लेशोऽभूतपरिकल्पात् प्रवर्तते इति॥ १२॥

(यहाँ संस्कार और भव-दोनों ही कर्मात्मक हैं; अन्तर इतना ही है कि स्वरूपावस्था का कर्म 'संस्कार' कहलाता है और बीजावस्था का 'भव'।) और ३. जन्मसंक्लेश (शेष अङ्ग; क्योंकि वे भी सब जन्मसंगृहीत हैं)। फिर वही प्रतीत्यसमुत्पादसंक्लेश सप्तविध हेतुओं से संगृहीत होने से सात प्रकार से भी परिगणित है, जैसे—१. विपर्यासहेतु (अविद्या); २. आक्षेपहेतु (संस्कार); ३. उपनयनहेतु (विज्ञान) ४. परिग्रहहेतु (नामरूपषडायतन); ५. उपभोगहेतु (स्पर्श और वेदना); ६. आकर्षणहेतु (तृष्णा, उपादान और भव); एवं ७. उद्वेगहेतु (जाति, जरा और मरण)। यह समग्र संक्लेशसमूह अभूतपरिकल्प से ही प्रवृत्त होता है।

अभूतपरिकल्प का पिण्डार्थ—अब तक प्रतिपादित इस अभूतपरिकल्प का पिण्डार्थ (विस्तरेण अर्थानिर्देश) पूर्वोक्त नवविध लक्षणों से परिदीपित किया गया है। जैसे—

१. **सल्लक्षण**—'अभूतपरिकल्पोऽस्ति' (का० २);

२. **असल्लक्षण**—'द्वयं तत्र न विद्यते' (का० २);

३. **स्वलक्षण**—'अर्थसत्त्वात्मविज्ञप्तिप्रतिभासं प्रजायते विज्ञानम्' (का० ४);

४. **संग्रहलक्षण**—'कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च'—(का० ६)

५. **असल्लक्षणानुप्रवेशोपायलक्षण**—'उपलब्धिं समाश्रित्य नोपलब्धिः प्रजायते' (का० ७)

६. **प्रभेदलक्षण**—'अभूतपरिकल्पश्च चित्तचैत्तास्त्रिधातुकाः' (का० ८)

७. **पर्यायलक्षण**—'तत्रार्थदृष्टिर्विज्ञान तद्विशेषे तु चैतसाः' (का० ९)

८. **प्रवृत्तिलक्षण**—'एकं प्रत्ययविज्ञानं द्वितीयमौपभोगिकम्' (का० १०)

९. **संक्लेशलक्षण**—'छादनाद् रोपणाच्चैव नयनात् सम्परिग्रहात्' (का० ११) इत्यादि॥ १२॥

२. शून्यताज्ञानम्

एवमभूतपरिकल्पस्य नवविधलक्षणमुक्त्वा यथा शून्यता ज्ञायते, तथा निर्दिशति—

लक्षणञ्चाथ पर्यायस्तदर्थो भेद एव च ।
साधनं चेति विज्ञेयं शून्यतायाः समासतः ॥ १३ ॥

तत्र शून्यतालक्षणं भावाभावप्रतिषेधात्मता । शून्यतापर्यायाः तथतादयः । सत्यपि शून्यताया विकाराभावे, आगन्तुकक्लेशसंयोगवियोगावस्थाभेदाद् भेदः । साधनम्=मार्गभावना ॥ १३ ॥

कथं शून्यताया लक्षणं विज्ञेयम् ? इत्याह—

द्वयाभावो ह्यभावस्य भावः शून्यस्य लक्षणम् ।
न भावो नापि चाभावो न पृथक्त्वैकलक्षणम् ॥ १४ ॥

द्वयस्य ग्राह्यस्य ग्राहकस्य चाभूतपरिकल्पेऽभूतपरिकल्पनेन वा परिकल्पितात्मकत्वाद् वस्तुरूपेणा**भाव**ः । तस्य च **द्वयाऽभावस्य** यो **भाव**ः स शून्यताया **लक्षणम्** । अभावस्य द्वयाभावरूपस्याऽभूतपरिकल्पे भावः । न हि प्रागभावप्रध्वंसाभावौ स्वोपादानादन्यत्र आख्यातुं युक्तौ । अन्योन्याभावस्याप्युभयाश्रितत्वादेकाश्रयत्वं न युक्तम् । अतो ग्राह्यग्राहकयोरत्यन्ताभाव एव शून्यतेति ज्ञापितं भवति ।

वस्तुतस्तु शून्यता **न भावो नापि चाभाव** इति । कथं न भावः ? यस्माद्

शून्यता—[यों आचार्य अभूतपरिकल्प के नवविध लक्षणों का व्याख्यान कर शून्यता के ज्ञान की विधि का निर्देश प्रारम्भ कर रहे हैं--] उपर्युक्त संक्लेश की विशुद्धि के लिये १. भावाभावप्रतिषेधस्वरूप शून्यता के लक्षण, २. तथतादि पर्याय, शून्यता में परमार्थतः विकार न होने पर भी आगन्तुक क्लेश के संयोग एवं वियोग के अवस्थाभेद से भेद और ४. मार्गभावनारूप साधन का ज्ञान जिज्ञासु को सम्यक्तया होना चाहिए ॥ १३ ॥

शून्यता का लक्षण—अभूतपरिकल्प में द्वय (ग्राह्य व ग्राहक) के परिकल्पित स्वरूप होने से उसका परमार्थतः (वस्तुरूप से) अभाव ही 'शून्यता' कहलाता है । और उस द्वयाभाव का भाव (सत्ता) ही शून्यता का लक्षण है । कहने का निष्कर्ष यह है कि अभूतपरिकल्प में द्वयाभाव का स्वभाव ही शून्यता है; क्योंकि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव अपने उपादान से अतिरिक्त कहाँ रह सकते हैं ! और अन्योन्याभाव उभयाश्रित होता है तो वह एकाश्रय होकर कैसे रहेगा ! अतः ग्राह्य-ग्राहक (विषय-विषयी) का अत्यन्ताभाव ही 'शून्यता' है ।

वस्तुतः यह शून्यता न भाव है, न अभाव । भाव क्यों नहीं है ? क्योंकि वहाँ

द्वयस्याभावः । कथं नाभावः ? यस्माद् द्वयाभावस्य भावः ।

एतच्च शून्यताया लक्षणमभूतपरिकल्पान्न पृथक्त्वैकलक्षणम् । पृथक्त्वे सति धर्मादन्या धर्मततिर्न युज्यते । एवं सति धर्मता धर्मान्तरमेव भवति । न च धर्मान्तरं धर्मान्तरस्य धर्मता भवितुमर्हति । एकत्वे सति विशुद्धयालम्बनं न स्यात् । विशुध्यतेऽनेनेति विशुद्धिः=मार्गः ।

एवं च शून्यतेयम् १. अभावलक्षणा, २. निःस्वभावस्वरूपलक्षणा, ३. अद्वयलक्षणा, ४. तत्त्वान्यत्वविनिर्मुक्तलक्षणा च परिदीपिता ॥ १४ ॥

शून्यतापर्यायान् निर्दिशति—

तथता भूतकोटिश्चानिमित्तं परमार्थता ।
धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः ॥ १५ ॥
अनन्यथाऽविपर्यास-तन्निरोधाऽऽर्यगोचरैः ।
हेतुत्वाच्चार्यधर्माणां पर्यायार्थो यथाक्रमम् ॥ १६ ॥

१. **अनन्यथार्थेन** तथता । अविकारार्थेन इत्यर्थः । नित्यं तथात्वात् तथाभावात् **तथता** । सर्वस्मिन् काले न विक्रियते । २. अविपर्यासार्थेन भूतकोटिः । असमारोपानपवादार्थेन इत्यर्थः । भूतं सत्यमविपरीतम् । कोटिः पर्यन्तः । यतः परेणान्यज्ज्ञेयं नास्त्यतो भूतकोटिः । विपर्यासो हि विकल्पः । निर्विकल्पकत्वान् न विपर्यासवस्तु । ३. निमित्तनिरोधादनिमित्तम् । सर्वैरेव

ग्राह्य-ग्राहक दोनों का अभाव है । अभाव क्यों नहीं ? क्योंकि वहाँ उक्त द्वयाभाव का भाव तो है ही । यह शून्यता का लक्षण अभूतपरिकल्प से न पृथक् है, न एक । क्योंकि इसमें पृथक्त्व मानने पर धर्म से धर्मता को अन्य मानना पड़ेगा, जो कि युक्त नहीं है । और एक मानने पर वह शून्यता विशुद्धि का आलम्बन कैसे बनेगी ! 'विशुद्धि' पद का विग्रह है—जिससे विशुद्ध किया जाय । अर्थात् मार्ग । इस तरह इस एकविध शून्यता का ही १. अभाव, २. निःस्वभाव, ३. अद्वय एवं ४. अन्यत्व-विनिर्मुक्त—यों चार प्रकार से लक्षण किया जा सकता है ॥ १४ ॥

शून्यता के पर्याय—संक्षेप से शून्यता के पाँच पर्याय कहे जा सकते हैं । जैसे—१. तथता, २. भूतकोटि, ३. तन्निरोध (अनिमित्त), ४. आर्यगोचर (परमार्थता), एवं ५. आर्यधर्महेतु ॥ १५ ॥

उसे १. 'तथता' इस लिए कहते हैं कि वह सतत वैसी की वैसी (तथाभाव) बनी रहती है, किसी भी समय उसमें विकार (अन्यथा भाव) नहीं आता । २. वह 'भूतकोटि' भी है । 'भूत' कहते हैं सत्य (अविपरीत) को । 'कोटि' कहते हैं कोण को । वह सब तरफ से अविपरीत (अविपर्यस्त) है । यहाँ विपर्यास से

संस्कृतासंस्कृतनिमित्तैः शून्या । ४. आर्यज्ञानगोचरत्वात् **परमार्थः** । परमं लोकोत्तरं ज्ञानम्, तस्यार्थः । ५. आर्यधर्महेतुत्वाद् धर्मधातुः । धातुशब्दोऽत्र हेत्वर्थः ॥ १५-१६ ॥

शून्यताप्रभेदं ख्यापयति—अभूतपरिकल्पः संक्लेशस्तत्प्रहाणे विशुद्धिरिति संक्लेशविशुद्धि-कालयोरपि शून्यताविनिर्मुक्तं नान्यद् यत् संक्लिश्यते विशुध्यते चेति प्रदर्शनार्थमाह—

संक्लिष्टा च विशुद्धा च समला निर्मला च सा ।[1]
अब्धातु-कनकाऽऽकाश-शुद्धिवच्छुद्धिरिष्यते ॥ १७ ॥

येषामविदुषां ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशरागादिक्लेशमलिनचित्तसन्तानानामप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिदोषेण शून्यता न प्रख्याति तान् प्रति समलेति व्यवस्थाप्यते । येषामार्याणां तत्त्वज्ञानादविपरीतचेतसां शून्यता निरन्तरमाकाशवद् विरजस्का प्रख्याति तान् प्रति प्रहीणमलेत्युच्यते । एवं शून्यताया आपेक्षिकी

तात्पर्य है विकल्प का । वह निर्विकल्प होने से विपर्यासवस्तु नहीं है । ३. निमित्त के विरोध से अनिमित्त भी कहलाती है; क्योंकि सभी संस्कृत या असस्कृत निमित्तों से वह शून्य है । ४. आर्यज्ञान से गोचर (साक्षात्करणीय) होने के कारण वह परमार्थ (लोकोत्तर ज्ञान वाली) है । और ५. आर्यधर्म का हेतु होने से उसे आर्य-धर्मधातु' भी कह सकते हैं । 'धातु' का अर्थ यहाँ 'हेतु' समझना चाहिए ।। १६ ।।

शून्यता का प्रभेद—[संक्लेश अभूतपरिकल्प है, उसके प्रहाण से ही चित्त-विशुद्धि होती है, अतः संक्लेश और चित्तविशुद्धि—दोनों में ही शून्यताविनिर्मुक्त ऐसा कुछ नहीं रहता जो संक्लिष्ट हो या जिसे विशुद्ध करना पड़े—यह बताने के लिए आचार्य कहते हैं—] वह शून्यता समला भी है निर्मला भी; संक्लिष्ट भी है और विशुद्धा भी । कहने का तात्पर्य यह है कि ग्राह्य-ग्राहकाभिनिवेश से उत्पन्न रागादिक्लेश से मलिन चित्त वाले जिन मूढमतियों को सर्वथा शून्यता या तो ज्ञात ही नहीं है या फिर उन्हें उसका थोड़ा बहुत ज्ञान होने पर भी उसके विषय में नानाविध शङ्का-सन्देह रहते हों यहाँ वह शून्यता 'समला' कहलाती है । और जो आर्य-श्रावक तत्त्वज्ञान के कारण अविपरीतचेता हैं, उनके लिए वही शून्यता निर्मल आकाश की तरह शुद्ध दिखायी देती है । यों संक्लेश और विशुद्धि के बीच शून्यता की स्थिति आपेक्षिकी है । कारण कि वह प्रकृत्या प्रभास्वर होने से रूपतः समला नहीं है । यदि वह समला होती तो उसमें विकार होता । वहाँ उसका यह समलत्व आगन्तुक है ।

---

१. कारिकांशोऽयं तत्त्वसंग्रहस्य कमलशीलकृतपञ्जिकायामप्युद्धृतः, पृ० १५८ (बौ० भा० सं०) ।

संक्लेशविशुद्धयोर्दृष्टि: । प्रकृतिप्रभास्वरत्वेन न स्वरूपेण समला । यदि समला स्यात् सविकारा स्यात् । न ह्यवस्थाभेदो विकारमन्तरेण दृष्टः । विकारश्चोत्पादविनाशाभ्याननुस्यूतः । अत आह--कथं विकारधर्मिणीत्वादनित्या न भवतीति ? तत्त्वतोऽवस्थायाः स्वभावान्तरमनापद्यमानाया आगन्तुकमलापगमात् । तस्मादनित्या न भवतीति ।

यथैव अब्धातुकनकाकाशानामतत्स्वभावत्वान्निर्मल-स्वभावत्वेऽप्यागन्तुकमलवत्वम्, अपि च आगन्तुकमलापगमे च प्रकृतिविशुद्धत्वं स्वभावान्तरप्रतिपत्तिमन्तरेणापि, एवं शून्यताप्यागन्तुकमलैः संक्लिश्यतेऽविकृतस्वरूपापि तद्विगमे च विशुध्यते । तस्मान्नासौ विकारधर्मतां स्पृशति ॥१७॥

प्रज्ञापारमितायां षोडशविधा शन्यता पठ्यते अध्यात्मशून्यता यावत् अभावस्वभावशून्यतेति ? वस्तुभेदेन षोडशविधा भवति, द्वयाभावस्वरूपे तु भेदो नास्ति ॥ १७ ॥

भोक्तृ-भोजन-तद्देह-प्रतिष्ठावस्तुशून्यता ।
तच्च येन यथा दृष्टं यदर्थं तस्य शून्यता ॥ १८ ॥

पूर्वं तावद् भोक्ता विभावितव्यस्तत्स्नेहाभिनिवेशत्याजनार्थम् । तदनन्तरं भोजनं विषयः । तदनन्तरं तदुभयाधिष्ठानं शरीरम् । तदधिष्ठानस्य शरीरस्य

[इसी बात को आचार्य उदाहरणों द्वारा समझा रहे हैं—] यह शुद्धि तो वैसी ही ही है जैसी जल, सुवर्ण या आकाश की शुद्धि हुआ करती है । जल, सुवर्ण और आकाश प्रकृतितः तो निर्मल होते हैं, परन्तु आगन्तुक मल के कारण वे कभी कभी मलिन दिखायी देते हैं; इसी तरह शून्यता भी, प्रकृतितः अविकृत स्वरूप वाली होने पर भी आगन्तुक मलों से मलिन होती हुई, विशुद्धि की अपेक्षा रखती है । अतः इसमें विकारधर्मता आ गयी हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ कोई पूछ सकता है कि प्रज्ञापारमिताशास्त्र में शून्यता के अध्यात्मशून्यता आदि सोलह भेद बताये गये हैं तो यहाँ आचार्य इसके इतने कम भेद क्यों बता रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुभेद से वह शून्यता सोलह प्रकार की हो सकती है, परन्तु जब हम उसे द्वयाभावरूप ही मानते हैं तो उसमें अन्य भेद कहाँ से आयगा ! ॥ १७ ॥

[प्रज्ञापारमिताशास्त्र में शून्यता के सोलह भेद माने गये हैं; जैसे—१. अध्यात्मशून्यता, २. बहिर्धाशून्यता, ३. अध्यात्मबहिर्धाशून्यता, ४. महाशून्यता, ५. शून्यताशून्यता, ६. परमार्थशून्यता, ७. संस्कृतशून्यता, ८. असंस्कृतशून्यता, ९. अत्यन्तशून्यता, १०. अनवराग्रशून्यता, ११. अनवकारशून्यता, १२. प्रकृतिशून्यता, १३. लक्षणशून्यता, १४. सर्वधर्मशून्यता, १५. अभावशून्यता एवं १६. अभावस्वभावशून्यता । इस शास्त्र में, इनमें से केवल अन्तिम दो का ही व्याख्यान किया गया है ।]

प्रतिष्ठावस्तु भाजनलोको विभावयितव्यः। आत्मीयस्नेहग्राहव्यावर्तनार्थम् एतत् चतुर्विधं वस्तु। तच्छून्यता वस्तुशून्यता ॥ १८ ॥

किमर्थं च बोधिसत्त्वः शून्यतां प्रतिपद्यते इति ? आह—

शुभद्वयस्य प्राप्त्यर्थं सदा सत्त्वहिताय च।
संसारात्यजनार्थं च कुशलस्याक्षयाय च ॥ १९ ॥

गोत्रस्य च विशुद्ध्यर्थं लक्षणव्यञ्जनाप्तये।
शुद्धये बुद्धधर्माणां बोधिसत्त्वः प्रपद्यते ॥ २० ॥

शुभं संस्कृतम्, असंस्कृतं च। सत्त्वार्थं न मया संसारः परित्याज्यः। अक्षय-शुभं निरुपधिशेषनिर्वाणम्। गोत्रं हि प्रकृतिः। सानुव्यञ्जनानां महापुरुषलक्षणानां प्राप्तये। बलवैशारद्यादीनां सर्वेषां बुद्धधर्माणां प्राप्तये। इयं चतुर्दशप्रकारा शून्यता ॥ १९-२० ॥

का पुनरत्र शून्यता ?

पुद्गलस्याथ धर्माणामभावः शून्यतात्र हि।
तदभावस्य सद्भावस्तस्मिन् सा शून्यता परा[1] ॥ २१ ॥

वस्तुशून्यता भेद से भी शून्यता के चार भेद आचार्य ने वर्णित किये हैं। वे कहते हैं—आत्मीय स्नेह की व्यावृत्ति के लिये बुद्धिमान् बोधिसत्त्व को १. भोक्ता (इन्द्रिय), २. भोजन (विषय), ३. इन दोनों का अधिष्ठान (शरीर), एवं ४. उस शरीर के भाजनलोक (उसके चतुर्दिक् का परिवेश=प्रतिष्ठा) का समीक्षण करना चाहिये। अर्थात् इन चतुर्विध वस्तुशून्यताओं की भी विभावना करना चाहिये ॥ १८ ॥

[अब आचार्य 'बोधिसत्त्व को किस लिये शून्यता का साक्षात्कार करना चाहिए ?'—इस पर विचार कर रहे हैं —] १. संस्कृत एवं असंस्कृत—इन द्विविध शुभ कर्मों की प्राप्ति के लिये, २. 'सदा सभी प्राणियों का हित करता रहूँ'—इस कामना की पूर्तिहेतु संसार का त्याग न करने के लिये, ३. गोत्र (प्रकृति) की विशुद्धि के लिये, ४. महापुरुषों के शारीरिक अनुव्यञ्जन (पहचान) सहित शुभ लक्षणों की प्राप्ति के लिये, और ५. बल, वैशारद्य आदि समग्र बुद्धधर्मों की अधिगति के लिये बोधिसत्त्व को निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ १९-२० ॥

---

१. कारिकेयं श्रीयामागूचीमहाशयेन भोटभाषानुवादात् संस्कृतभाषयेत्थं पुनस्संस्कृता—

पुद्गलस्य च धर्माणामतद्भावोऽथ शून्यता !
तदभावस्य सद्भावस्तदन्या तत्र शून्यता ॥ इति ॥

यद्यभावशून्यता नोच्यते, परिकल्पितरूपयोर्धर्मपुद्गलयोर्भाव एव प्रसज्येत। यदद्यभाव-स्वभाव-शून्यता नोच्यते, शून्यताया एवाभावः प्रसज्येत। तदभावाच्च पुद्गलधर्मयोर्भावः स्यात्। एवं षोडशप्रकारा शून्यता ॥ २१ ॥

शून्यतासाधनमधिकृत्याह—

संक्लिष्टा चेद् भवेन्नासौ मुक्ताः स्युः सर्वदेहिनः।
विशुद्धा चेद् भवेन्नासौ ह्यायासो निष्फलो भवेत्[1] ॥ २२ ॥

मोक्षः संक्लेशप्रहाणम्। तच्च मार्गभावनातः। यदि धर्माणां शून्यता आगन्तुकसंक्लेशैः संक्लिष्टा न भवेत्, एवं सति संक्लेशाभावात् प्रयत्नमन्तरेण सर्वे सत्त्वा मुक्ताः स्युः। अथोत्पन्नेऽपि प्रतिपक्षे अनुत्पन्न इव सा प्रकृत्या न विशुद्धा भवेत्, एवं सति मोक्षार्थमारम्भो निष्फलो भवेत्। अतः शून्यता पृथग्जनावस्थायां क्लिष्टा, आर्यावस्थायां च शुद्धा भवति ॥ २२ ॥

साधारणतः पुद्गल के धर्मों का असद्भाव (न होना) ही 'शून्यता' शब्द का अर्थ होता है; परन्तु यहाँ (इस शास्त्र में) इस असद्भाव का सद्भाव (होना) ही 'शून्यता' पद से अभिप्रेत है। क्योंकि यदि अभावशून्यता न मानोगे तो परिकल्पितरूप धर्मों की सत्ता माननी पड़ जायगी और यदि अभावस्वभावशून्यता न मानोगे तो शून्यता का ही अभाव होने लगेगा! इस तरह उस शून्यता के अभाव से पुद्गलधर्मों की सत्ता गले पड़ जायगी!॥ २१ ॥

[पहले शून्यता के संक्लिष्ट और विशुद्ध—यों दो भेद बता आये हैं, उसी बात का आचार्य विस्तृत व्याख्यान कर रहे हैं—] यदि इस शून्यता को संक्लिष्ट (मलिन) न मानोगे तो सभी प्राणियों का मोक्ष (संक्लेश-प्रहाण=निर्वाण), जो कि मार्गभावना से ही होता है, विना प्रयास के होने लगेगा। और उसको प्रकृत्या प्रभास्वर (विशुद्ध) न मानोगे तो बोधिसत्त्वों का निर्वाण के लिये प्रयत्न ही निष्फल होने लगेगा! अतः सरल शब्दों में यों कहना चाहिये कि वह शून्यता पृथग्जनावस्था में क्लिष्ट एवं आर्यावस्था में विशुद्ध कहलाती है॥ २२ ॥

अतः सिद्ध हो गया कि वह शून्यता न एकान्ततः क्लिष्टा है न अक्लिष्टा, और न वह एकान्ततः अशुद्ध है, न शुद्ध ही। वह तो सभी विकल्पों से शून्य एवं स्वयं में पूर्ण मानी गयी है॥ २३ ॥

---

१. कारिकेयं तत्त्वसङ्ग्रहस्य कमलशीलकृतपञ्जिकायामुद्धृता, पृ० १५८ (बौ० भा० सं०)। तत्र 'ह्यायासो' इत्यस्य 'व्यायामो' इति ध्येयम्।

अत एव इदमपि सिद्धं भवति—

न क्लिष्टा नापि चाऽक्लिष्टा शुद्धाशुद्धा चैव सा।
प्रभास्वरत्वाच्चित्तस्य क्लेशस्यागन्तुकत्वतः ॥ २३ ॥

आगमानुसारिण्यां मध्यान्त-विभागटीकायाम्
आचार्यभदन्तस्थिरमतिव्याख्यातायां
लक्षणपरिच्छेदः प्रथमः समाप्तः ॥

शून्यतापिण्डार्थ

(इस शास्त्र में) शून्यता का पिण्डार्थ, लक्षण और व्यवदान से, संगृहीत किया गया है। जैसे--

१. लक्षण से—(क) भावलक्षण और (ख) अभावलक्षण।

(क) भावलक्षण से--'अभावस्य च भावः' (का० १४)

(ख) अभावलक्षण से--'द्वयाभावो हि' (का० १४)

(ग) भावाभावविनिर्मुक्त लक्षण से—'न भावो नापि चाभावः' (का० १४)

(घ) तत्त्वान्यत्वविनिर्मुक्तलक्षण से—'तस्मादभूतपरिकल्पान्न पृथक्त्वैकलक्षणम्' (का० १४) यों लक्षणतः शून्यता का पिण्डार्थ हुआ।

२. व्यवस्थान से—(क) शून्यता के पर्याय, (ख) उनका अर्थ, (ग) उसका भेद और (घ) उसका भाजन। यों चार प्रकार की देशना से चतुर्विध उपक्लेश के प्रतिपक्ष के रूप में १. स्वलक्षण, २. कर्मलक्षण, ३. संक्लेशव्यवदानलक्षण, और युक्तिलक्षण की उद्भावना की गयी है। इनमें—

१. स्वलक्षण— विकल्प के प्रतिपक्ष से, क्योंकि उसमें भावाभावोभयपृथक्त्वैकत्वग्राहात्मकत्व है।

२. कर्मलक्षण—अनधिमुक्तों का शून्यतालक्षण के श्रवणमात्र से होने वाले त्रास के प्रतिपक्ष से। यह कर्म पञ्चविध है—(क) अभ्रान्तितथता कर्म २. अविपर्यास कर्म, ३. सर्वनिमित्तप्रहाणकर्म, ४. सर्वलोकोत्तरज्ञानविषयत्वावस्थान कर्म एवं ५. प्रतिलब्धार्यधर्महेतुभाव कर्म।

३. शून्यता का प्रभेदलक्षण शून्यतास्वरूप कर्म श्रवण से प्राप्त ग्राहों के कौशीद्याद्यपनयन के लिये बताया गया है।

४. और वह शून्यता संक्लेश कैसे कहलाती है, और उसका व्यवदान (शुद्धि) कैसे होता है ? ऐसा सन्देह करने वालों का सन्देह मिटाने के लिये युक्तिलक्षण का व्याख्यान किया गया है॥

॥ प्रथम लक्षणपरिच्छेद समाप्त ॥

२. आवरणपरिच्छेदो द्वितीयः

१. व्याप्यादिपञ्चाऽऽवरणम्

व्यापि[1] प्रादेशिकोद्रिक्तं समाऽऽदानविवर्जनम् ।
द्वयावरणमाख्यातं नवधा क्लेशलक्षणम् ॥ १ ॥

द्वयोर्हि आवरणम्--बोधिसत्त्वगोत्राणां श्रावकादिगोत्राणां च । अथवा—द्विविधमावरणम्-क्लेशावरणं ज्ञेयावरणं चेति ।

तत्र **व्यापि** बोधिसत्त्वगोत्राणां क्लेशावरणम् । व्याप्नोतीति व्यापि; सकलार्थावरणत्वात् । क्लेश एवावरणं क्लेशावरणम् । ज्ञेये आवरणं ज्ञेयावरणम्; ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात् । तत् पुनरक्लिष्टमज्ञानम् । **प्रादेशिकं** तु श्रावकादि-गोत्राणां क्लेशावरणम् । **उद्रिक्तं** तु रागादिचरितानामावरणम् । येषां मन्देऽपि विषये रागादिप्रवृत्तिरभीक्ष्णं ते रागादिचरिताः । **समं** पुनः समभागचरितानामावरणम् । येषां विषयसन्निकर्षे क्लेश उत्पद्यते न त्वभीक्ष्णं ते समभागचरिताः । संसाराऽऽदानप्रहाणं चावरणम् । बोधिसत्त्वो हि कृपया संसारमुपादत्ते सत्त्वार्थं, प्रज्ञया च संसारदोषं यथाभूतं दृष्ट्वा त्यजति । क्लेशलक्षणमावरणं नवविधम् ॥ १ ॥

द्वितीय आवरणपरिच्छेद

[आचार्य अब नवविध आवरणों का क्रमशः व्याख्यान आरम्भ कर रहे हैं—] प्रथमदृष्ट्या आवरण के दो भेद किए जा सकते हैं—१. बोधिसत्त्वगोत्रों का आवरण, एवं २. श्रावकादिगोत्रों का आवरण । या फिर १. क्लेशावरण और २. ज्ञेयावरण । १. वह आवरण कहीं सभी अर्थों को आवृत करने के कारण 'व्यापी' होता है, जैसे--बोधिसत्त्वगोत्रों का क्लेशावरण । क्लेशरूपी आवरण को 'क्लेशावरण' एवं ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक होने से ज्ञेय में आवरण को 'ज्ञेयावरण' कहते हैं । अक्लिष्ट अज्ञान ज्ञेयावरण है । २. श्रावकादिगोत्रों का क्लेशावरण 'प्रादेशिक' होता है । ३. रागादिचरितों का आवरण 'उद्रिक्त' कहलाता है । रागादिचरित उनको कहते हैं जिनकी साधारण विषयों में भी तीक्ष्ण प्रवृत्ति हो । ४. समभागचरितों का आवरण 'सम' कहलाता है । समभागचरित वे होते हैं जिनको विषयसन्निकर्ष होने पर क्लेश तो होता है, परन्तु उसमें उतनी तीव्रता नहीं होती । ५. 'संसारादानप्रहाण' भी आवरण होता है । जैसे कि बोधिसत्त्व करुणाभ्यास के लिये संसार का उपादान करता है; और प्रज्ञा द्वारा उस संसार में दोषदर्शन करता हुआ उसका परित्याग कर देता है । यह क्लेशलक्षण आवरण नवविध होता है ॥ १ ॥

१-१. 'व्यापि' इत्यारभ्य अपरपृष्ठे 'आश्रयः' इत्यन्तो भागः श्रीयामागूचीमहाशयेन भोटभाषानुवादात् संस्कृतभाषया प्रतिसंस्कृत इति ध्येयम् ।

२. नवसंयोजनाऽऽवरणम्

संयोजनान्यावरणमुद्वेगसमुपेक्षयोः ।
तत्त्वदृष्टेश्च सत्कायदृष्टेस्तद्वस्तुनोऽपि च ॥ २ ॥

नानादुःखे संयोजनात् **संयोजनानि** । तानि च त्रैधातुकानि नवविधानि अनुनय-प्रतिघ-मान-अविद्या-दृष्टि-परामर्श-विचिकित्सा - ईर्ष्या-मात्सर्यरूपाणि । तानि चावरणानि । तत्रानुनयो रागः । **प्रतिघो** द्वेषः । **मानमहं** ममेति व्यवहारः । **अविद्या** मोहः । **दृष्टिः** सत्कायदृष्टिः, अन्तग्राहदृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च । **परामर्शो** दृष्टिपरामर्शः, शीलव्रतपरामर्शश्च । **विचिकित्सा** संशयरूपा विमतिः । **ईर्ष्या** द्वेषांशिकश्चेतसो व्यारोषः । **मात्सर्यं** रागांशिकश्चेतस आग्रहोऽपरित्यागेच्छारूपः । तत्र अनुनयसंयोजनं संसारादुद्वेजने आवरणम् । प्रतिघसंयोजनमुपेक्षायामावरणम् । सप्त पुनः शेषाणि तत्त्वदर्शने आवरणम् । मानादिसप्तकस्य सत्कायदृष्टिराश्रयः[1] ॥ २ ॥

३. बोधिसत्त्वाऽऽवरणम्

निरोधमार्गरत्नेषु लाभसत्कार एव च ।
संलेखस्य परिज्ञाने शुभादौ दशधा परम् ॥ ३ ॥

उद्वेगे संसारादुद्वेजने । उपेक्षणे उपेक्षायाम् । ज्ञाने तत्त्वदर्शने । एतदावरणं सामान्य बोधिसत्त्वश्रावकादीनाम् ।

अन्यदावरणं बोधिसत्त्वानाम् । तच्च दशसु शुभादिषु ॥ ३ ॥

नवविध संयोजनावरण—नानाप्रकार के दुःखों संयोजन (सम्पर्क) करने के कारण ये आवरण 'संयोजन' कहलाते हैं। ये संख्या में ९ हैं। जैसे—१. अनुनय (राग); प्रतिघ (द्वेष); ३. मान (संसार में 'मैं' 'मेरा' का व्यवहार); ४. अविद्या (मोह); ५. दृष्टि (१. सत्कायदृष्टि, २. अन्तग्राहदृष्टि एवं ३. मिथ्यादृष्टि); ६. परामर्श (१. दृष्टिपरामर्श, २. शीलव्रतपरामर्श); ७. विचिकित्सा (संशय, विमति); ८. ईर्ष्या (द्वेषसहित चित्त का व्यारोष); एवं ९. मात्सर्य (रागसहित-चित्त का आग्रह, परित्याग न करने की इच्छा ।

वहाँ अनुनयसंयोजन संसार के उद्वेग में आवरण है। प्रतिघसंयोजन उपेक्षा में आवरण है। अवशिष्ट सात संयोजन तत्त्वदर्शन में आवरण है। मानादिसप्तक का सत्कायदृष्टि आश्रय है ॥ २ ॥

[इसी बात को आचार्य स्वयं स्पष्ट कर रहे हैं--] उद्वेजन (उद्वेग) में अनुनयसंयोजन, एवं उपेक्षा में प्रतिघसंयोजन, तथा तत्त्वदर्शन में मान आदि सात संयोजन आवरण करते हैं। ये सब आवरण सामान्यतः सभी बोधिसत्त्व-श्रावकादिकों में पाये जाते हैं। दूसरे आवरण शुभादि दश अर्थों में केवल बोधिसत्त्वों को होते हैं ॥ ३ ॥

एषामावरणानि यथाक्रमं ख्यापयति—

अप्रयोगोऽनायतनेऽयोगविहितश्च यः ।
नोत्पत्तिरमनस्कारः सम्भारस्याप्रपूर्णता ॥ ४ ॥
गोत्रमित्रस्य वैधुर्यं चित्तस्य परिखेदिता ।
प्रतिपत्तेश्च वैधुर्यं कुदुष्टजनवासता ॥ ५ ॥
दौष्ठुल्यमवशिष्टत्वं त्रयात् प्रज्ञाविपक्वता ।
प्रकृत्या चैव दौष्ठुल्यं कौसीद्यं च प्रमादिता ॥ ६ ॥
सक्तिर्भवे च भोगे च लीनचित्तत्वमेव च ।
अश्रद्धानधिमुक्तिश्च यथारुतविचारणम् ॥ ७ ॥
सद्धर्मेऽगौरवं लाभे गुरुताऽकृपता तथा ।
श्रुतव्यसनमल्पत्वं समाध्यपरिकर्मिता ॥ ८ ॥

अप्रयोगोऽनारम्भः । बोधेर्बोध्यावाहकानां च कुशलमूलानां यदुत्पत्तिद्वारं तदायतनम् । तस्मादन्यत् अनायतनम् । तस्मिन् प्रयोगः **अनायतनप्रयोगः** । **योनि**रुपायः, यस्य य उपायस्तस्मादन्यथाप्रयोगः **अयोनिशः प्रयोगः** । अयोनिशोमनस्कारस्तन्निमित्तो वा प्रयोगः । **शुभस्य** कुशलस्यानुत्पत्तिर्बोधेरावरणम् । अतः यत् कुशलस्यावरणं तदेव **बोधे**रपि । न हि कुशलेऽसति बोधिर्भवति । **दौष्ठुल्यं** कायचित्ताकर्मण्यता । **कौसीद्यं** कुशले चेतसोऽनुत्साहः वीर्यविपक्षः । दैन्यं लीनचित्तता, अनुदारता ॥ ४-८ ॥

बोधिचित्तोत्पाद में १. बोधिचित्त की आवृत्ति (=अधैर्य, एक जगह स्थिर न रहना) २. हेतुप्रत्यय का विकलता एवं ३. कुशल कर्म में अनुत्साह (वीर्य का विपक्ष) आवरण हैं। १. द्वेष, २. पारमिता का अभाव, और ३. अज्ञान—ये धीमत्ता में आवरण हैं। अभ्रान्ति नामक शुभ अर्थ में आवरण हैं—मोह और ग्राह्य-ग्राहक वासना। अनावृत्ति के १. दौष्ठुल्य (काय एवं चित्त की अकर्मण्यता), २. कौसीद्य (आलस्य, अनुत्साह) और ३. प्रमादता। नति (परिणति) में आवरण हैं—१. दैन्य (अनुत्साहता), और २. भवभोग में आसक्ति। अत्रास, अमात्सर्य एवं वशित्व में क्रमशः १. त्रास, २. मात्सर्य एवं ३. दौर्बल्य—ये आवरण माने गये हैं।

[अब इन शुभादि अर्थों के आवरणों का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है—] शुभ कुशल अर्थों तथा बोधि की उत्पत्ति में ये तीन आवरण होते हैं—१. अप्रयोग २. अनायतनप्रयोग, एवं ३. अयोनिशःप्रयोग। १. अप्रयोग से तात्पर्य है किसी कुशलमूल को आरम्भ ही न होने देना। २. बोधि एवं बोध्यावाहक कुशलमूलों का उत्पत्तिद्वार 'आयतन' कहलाता है, उससे भिन्न हुआ 'अनायतन'; उसका प्रयोग

एषां दशशुभादीनां त्रीणि त्रीणि आवरणानि विज्ञेयानि—

त्रीणि त्रीणि च विज्ञेयान्येषामावरणानि हि।

शुभादीन्निर्दिशति--

शुभं बोधिः समादानं धीमत्ताऽभ्रान्त्यनावृती।
नत्यत्रासामत्सरित्वं वशित्वञ्च शुभादयः॥ ९॥

१. **शुभं** बोधिहेतुभूतं सर्वकुशलमूलम्। २. **बोधिस्तु** तत्फलं लोकोत्तरं ज्ञानम्। ३. **समादानं** बोधिचित्तोत्पादः। ४. **धीमत्ता** बोधिसत्वता। ५. **अभ्रान्तिर**विपर्यासदर्शनम्। विपर्यासदौष्ठल्यं ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशवासना। प्रतिपक्षस्तु भ्रान्त्यभावो दर्शनमार्गः। ६. **अनावृति**रावरणप्रहाणं भावनामार्गः। ७. **नतिः** परिणतिः। सा चोत्पन्नानां कुशलमूलानां सम्यक्सम्बोधौ नियमनम्। ८. **अत्रासः** शून्यतायां बुद्धबोधिसत्त्वधर्मेषु चाभीरुता। ९. **अमात्सर्यं** लाभसत्कारपूजादिषु अनासक्तिः सत्त्वेषु कारुण्यं चेति। १०. **वशित्वं** बुद्धत्वम्। एते दश शुभादयोऽर्थाः॥ ९॥

४. बोधिधर्माऽऽवरणम्

पक्ष्य-पारमिताभूमिष्वन्यदावरणं पुनः॥ १०॥

बोधिपक्ष्येषु पारमितासभूमिषु च अन्यदावरणम्॥ १०॥

करना 'अनायतनप्रयोग' कहलाता है। ३. योनि कहते हैं उपाय को जिसका जो उपाय हो उससे अन्यथा प्रयोग करना 'अयोनिशः प्रयोग' (अयोनिशोमनस्कार) है। आचार्य कहते हैं कि जो तीन आवरण शुभोत्पत्ति में होते हैं वे ही तीनों बोध्युत्पाद में भी माने जाने चाहिये॥ ४-८॥

शुभादि का क्रमशः निर्देश--शुभ आदि ये दशविध अर्थ (धर्म) हैं। जैसे—१. शुभ (बोधिहेतुभूत सभी कुशल मूल); २. बोधि (उस कुशलमूल का फल-लोकोत्तर ज्ञान); ३. समादान (बोधिचित्तोत्पाद); ४. धीमत्ता (बोधिसत्त्वता); ५. अभ्रान्ति (अविपर्यासदर्शन)। ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशवासना को 'विपर्यास' कहते हैं, उसका प्रतिपक्ष हुआ भ्रान्त्यभाव अर्थात् दर्शनमार्ग, ६. अनावृत्ति (भावनामार्ग द्वारा आवरणप्रहाण); ७. नति (परिणति), अर्थात् उत्पन्न कुशलमूलों का सम्यक्सम्बोधि में नियमन। ८. अत्रास (शून्यता एवं बुद्धबोधिसत्त्वधर्मों में अभीरुता); ९. अमात्सर्य (गृहस्थों द्वारा प्राप्त लाभ-सत्कार-पूजादि में अनासक्ति तथा सत्त्वों के प्रति करुणा); एवं १०. वशित्व (बुद्धत्व)॥ ९॥

इन दश शुभ आदि अर्थों में उपर्युक्त व्याख्यानानुसार तीन-तीन आवरण जानने चाहिये।

बोधिपाक्षिक धर्मों, पारमिताओं और भूमियों में अन्य प्रकार के आवरण जानने चाहिये॥ १०॥

तत्र बोधिपक्षमधिकृत्याह—

वस्त्वकौशलकौसीद्य-समाधिद्वयहीनताः ।
अरोपणञ्च दौर्बल्यं दृष्टिदौष्ठुल्यदूषणम् ॥ ११ ॥

तत्र स्मृत्युपस्थानेषु वस्त्वकौशलमावरणम्। कायवेदनाचित्तधर्मस्मृत्युपस्थानानि चत्वारि। तेषां वस्तु काय-वेदना चित्त-धर्माः, तत्राऽकौशलम्। सम्यक्प्रहाणेषु कौसीद्यमावरणम्। तेषां वीर्यात्मकत्वात्। ऋद्धिपादेषु समाधेर्द्वयहीनता आवरणम्। चत्वारश्छन्द-वीर्य-चित्त-मीमांसा-समाधिरूपा ऋद्धिपादाः। द्वयस्य हीनता विकलता द्वयहीनता। द्वयमत्र यत्र समाधौ यस्य च्छन्दादेः प्राधान्यं तत, भावना च। श्रद्धादिषु पञ्चेन्द्रियेषु मोक्षभागीयानामरोपणमावरणम्। संसारादुत्त्रस्तो मोक्षमधिकृत्य कुशलमूलं योऽभिसंस्करोति तेन मोक्षलब्धौ निश्चितान्मोक्षसभागीयमुच्यते। येनोपक्लेशेन मोक्षसभागीयं न रोप्यते सा पुनर्भवसक्तिर्निर्वाणभीतिश्च। बलेषु तेषामिन्द्रियाणां दौर्बल्यमावरणम्। बोध्यङ्गेषु दृष्टिदोष आवरणम्; तेषां दर्शनमार्गप्रभावितत्वात्। मार्गाङ्गेषु दौष्ठुल्यदोष आवरणम्; तेषां भावनामार्गप्रभावितत्वात् ॥ ११ ॥

बोधिधर्मावरण —[अब आचार्य प्रसङ्गप्राप्त बोधिपाक्षिक धर्मों के आवरणों का वर्णन कर रहे हैं—] १. वहाँ चार स्मृत्युपस्थानों में वस्त्वकौशल नामक आवरण होता है। इन स्मृत्युपस्थानों में काय, वेदना, चित्त और धर्म—ये चार 'वस्तु' कहलाते हैं, इनमें अकौशल ही आवरण कहलाता है। २. सम्यक्प्रहाणों में कौशीद्य ही आवरण है; क्योंकि वे वीर्यात्मक हैं और कौशीद्य वीर्य का प्रतिपक्ष है। ३. ऋद्धिपादों में समाधि की द्वयहीनता आवरण है। अर्थात् छन्द, वीर्य, चित्त, मीमांसा और समाधि रूप ऋद्धिपादों में द्वय की विकलता (हीनता) ही आवरण है। यहाँ 'द्वय' से तात्पर्य है कि जिस समाधि में जिस छन्दादि का प्राधान्य हो वह और उसकी भावना—दोनों की हीनता। ४. श्रद्धादि पाँच इन्द्रियों में मोक्षसभागीय धर्मों का रोपण न होना ही आवरण कहलाता है। संसार से उत्त्रस्त साधक जब मोक्ष का लक्ष्य कर कुशलमूल का अभिसंस्कार करता है उससे मोक्षप्राप्ति में निश्चितता आ जाती है, अतः वह 'मोक्षसभागीय' कहलाता है। जिस उपक्लेश के कारण वह मोक्षसभागीय कुशलमूल रोपित न हो पाता हो वह 'आवरण' कहलाता है। जैसे—पुनभव में आसक्ति और निर्वाण से भीति। ५. बलों में उन इन्द्रियों का दौर्बल्य भी आवरण ही है। ६. बोध्यङ्गों में 'दृष्टिदोष' ही आवरण है। ७. और मार्गाङ्गों में, उनके भावनामार्ग प्रभावित होने के कारण, दौष्ठुल्य (काय एवं चित्त अकर्मण्यता) दोष भी आवरण ही है ॥ ११ ॥

पारमितानामावरणमाह—

ऐश्वर्यस्याथ सुगतेः सत्त्वात्यागस्य चावृतिः।
हानिवृद्धयोश्च दोषाणां गुणानामवतारणे॥ १२॥
विमोचनेऽक्षयत्वे च नैरन्तर्ये शुभस्य च।
नियतीकरणे धर्मसम्भोगपरिपाचने॥ १३॥

द्रव्यतः षट् पारमिता, नामतो दश, प्रज्ञापारमिताप्रभावितत्वात् चतसृणां उपायकौशल्यप्रणिधान-बल-ज्ञान-पारमितानाम्। अत्र षण्णां दशानां वा पारमितानां यस्याः यत् फलं तदावरणेन तस्या आवरणम्। दानपारमितायाः फलमैश्वर्यम्। शीलपारमितायाः सुगतिः। क्षान्तिपारमितायाः सत्वाऽपरित्यागः। एवमन्यत्रापि। तत्र प्रज्ञापारमिता लोकोत्तर-निर्विकल्पज्ञानम्। तेन ज्ञानेन सर्वावरणप्रहाणम्॥ १२-१३॥

भूमिष्वावरणं दर्शयति—

सर्वत्रगार्थे अग्रार्थे निष्यन्दाग्रार्थ एव च।
निष्परिग्रहतार्थे वा सन्तानाभेद एव वा॥ १४॥
निःसंक्लेशविशुद्धयर्थे ह्यानानात्वार्थ एव च।
अहीनानधिकार्थे च चतुर्धा वशिताश्रये॥ १५॥
धर्मधातावविद्येयं ह्यक्लिष्टा दशधावृतिः।
दशभूमिविपक्षेण प्रतिपक्षास्तु भूमयः॥ १६॥

भूमयो दश—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अमला, साधुमती, धर्ममेधा च। प्रथमया हि भूम्या धर्म-

---

पारमिताओं के आवरण—१. दान, २. शील, ३. क्षमा, ४. वीर्य, ५. ध्यान एवं ६. प्रज्ञा—इन छह प्रज्ञापारमिताओं के क्रमशः १. मात्सर्य, २. कुत्सित कर्म, ३. क्रोध, ४. कौसीद्य, ५. विक्षेप, एवं मोह—ये क्रमशः आवरण हैं। पारमिताएँ द्रव्यतः छह हैं, और नाम से दश। इनमें छह तो ऊपर गिना ही दी गयी हैं, अवशिष्ट चार; ये हैं—१. उपायकौशल, २. प्रणिधान, ३. बल, एवं ४. ज्ञानपारमिता। इन छह या दश पारमिताओं में जिसका जो फल हो उसके आवरण से उसका आवरण होता है। जैसे—दानपारमिता का फल है 'ऐश्वर्य', शीलपारमिता का 'सुगति', क्षान्तिपारमिता का सत्त्वापरित्याग। इसी तरह अन्यत्र भी (भाष्य में व्याख्यानानुसार) यथाप्रसङ्ग समझ लेना चाहिये। वहाँ लोकोत्तर निर्विकल्प ज्ञान को 'प्रज्ञापारमिता' कहते हैं। इस ज्ञान से सभी आवरणों का प्रहाण हो जाता है॥ १२-१३॥

भूमियों में आवरण (इस शास्त्र में) भूमियाँ दश हैं, जैसे—१. प्रमुदिता, २. विमला, ३. प्रभाकरी, ४. अर्चिष्मती, ५. सुदुर्जया, ६. अभिमुखी, ७. दूरङ्गमा,

धातोः सर्वत्रगार्थं प्रतिविध्यति। द्वितीयया अग्रार्थम्। तृतीयया तन्निष्यन्दाग्रार्थम्। चतुर्थ्या अपरिग्रहार्थम्। पञ्चम्या सन्तानाभिन्नार्थम्। षष्ठ्या निःसंक्लेशविशुद्ध्यार्थम्। सप्तम्या अनानात्वार्थम्। अष्टम्या अनपकर्षानुत्कर्षार्थम्। नवम्या ज्ञानवशिताश्रयत्वम्। दशम्या कर्मवशिताश्रयत्वम्। एवमासां बोधिसत्त्वभूमीनां दशविधधर्मधातुप्रतिवेधसर्वाकारपरिशोधनविबन्धभूतं यदक्लिष्टमज्ञानं एकैकायामपि भूम्यामावरणम्, तत्प्रतिपक्षा दश भूमयो व्यवस्थिताः ॥ १४-१६ ॥

५. संग्रहावरणम्

प्रागुक्तानि बहुविधानि सर्वावरणानि समासेन द्वयाऽऽवरणान्तर्गतानि—इति प्रदर्शनार्थमाह—

क्लेशावरणमाख्यातं ज्ञेयावरणमेव च।
सर्वाण्यावरणानीह यत्क्षयान्मुक्तिरिष्यते ॥ १७ ॥

क्लेशज्ञेयावरणद्वयस्य क्षयात् सर्वावरणप्रहाणस्तेन मुक्तिरित्यर्थः॥ १७ ॥

आगमानुसारिण्यां मध्यान्तविभागटीकायाम्
आचार्यभदन्तस्थिरमतिव्याख्यातायां
आवरणपरिच्छेदो द्वितीयः समाप्तः ।

---

८. अमला, ९. साधुमती एवं १०. धर्ममेघा। इनमें प्रथम भूमि से धर्मधातु से सर्वत्रगार्थ में, द्वितीय से अग्रार्थ में, तृतीय से उसके निष्यन्दाग्रार्थ में, चतुर्थी के, अपरिग्रहार्थ में, पञ्चमी से सन्तानाभिन्नार्थ में, छठी से निःसंक्लेशविशुद्ध्यर्थ में-सप्तमी के अनानात्वार्थ में, अष्टमी से अनुकर्षापकर्षार्थ में, नवमी से ज्ञानवशिताश्रयार्थ में, एवं दशमी से कर्मवशिताश्रयार्थ में क्लेश का प्रतिवेध होता है। इस तरह इन दश बोधिसत्त्वभूमियों के दशविध धर्माधातुप्रतिवेधकारक सर्वाकारपरिशोधननिबन्धभूत जो अक्लिष्ट अज्ञान है, वह एक एक भूमि में भी आवरण है। इन दश भूमियों को उस आवरण का प्रतिपक्ष जानना चाहिए ॥ १४–१६ ॥

आचार्य कहते हैं कि हमने ऊपर नानाविध आवरण गिना दिये। वस्तुतः ये सभी आवरण क्लेशावरण, और ज्ञेयावरण--इन दो प्रधान आवरणों के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो जाते हैं। इन दोनों के क्षय से अन्य सभी उपर्युक्त आवरणों का प्रहाण हो जाता है। तब मुक्ति (=निर्वाण) स्वतः सिद्ध हो जाती है ॥ १७ ॥

आवरणपिण्डार्थ—१. महदावरण (व्यापि), २. प्रतन्वावरण (प्रादेशिक), ३. उद्रिक्त (प्रयोगावरण) ४. सम (प्राप्त्यावरण), ५. आदानविवर्जन (प्राप्तिविशेषावरण), ६. सम्यक्प्रयोगावरण (नवधा क्लेशावरण), ७. हेत्वावरण (शुभादि में); ७. तत्त्वप्रवेशावरण (बोधिपाक्षिक धर्मों में), ८. शुभानुत्तर्यावरण (पारमिताओं में); ९. तद्विशेषगत्यावरण (भूमियों में)।

ये सभी आवरण समासतः क्लेशावरण और ज्ञेयावरण भेद से द्विविध हैं ॥

॥ द्वितीय आवरणपरिच्छेद सम्पन्न ॥

३. तत्त्वपरिच्छेदस्तृतीयः

दशविधं तत्त्वम्

मूललक्षणतत्त्वाभ्याममविपर्यासलक्षणम् ।
फलहेतुमयं तत्त्वं सूक्ष्मौदारिकमेव च ॥ १ ॥
प्रसिद्धं शुद्धिविषयं संग्रहो भेदलक्षणम् ।
कौशल्यतत्त्वं दशधा ह्यात्मदृष्टिविपक्षतः ॥ २ ॥

१. मूलतत्वं २. लक्षणतत्वं ३. अविपर्यासतत्वं ४, फलहेतुतत्वं ५. औदारिकसूक्ष्मतत्वं ६. प्रसिद्धतत्वं ७. विशुद्धिगोचरतत्वं ८. संग्रहतत्वं ९. प्रभेदतत्वं १०. कौशल्यतत्वं चेति दशविधं तत्त्वम् । तत्र मूलतत्त्वेऽन्यतत्वान्तर्भावः । तच्च मूलतत्त्वं परिकल्पित-परतन्त्र-परिनिष्पन्नभेदेन त्रिविधस्वभावरूपम् ॥

१. मूलतत्त्वम्

स्वभावस्त्रिविधोऽसच्च नित्यं सच्चाप्यसत्त्वतः ।
सदसत्तत्त्वतश्चेति स्वभावत्रयमिष्यते ॥ ३ ॥

परिकल्पितलक्षणं नित्यमसत्; स्वरूपाभावात् । परतन्त्रलक्षणं सत्, न तु तत्त्वत इति । ग्राह्यग्राहकादिकल्पितव्यवहाराश्रयत्वात् सत्त्वम् । यत् ख्याति

तृतीय तत्त्वपरिच्छेद

दशविध तत्त्व [अब आचार्य ग्रन्थारम्भ में प्रतिज्ञात 'तत्त्व' पद की विस्तृत व्याख्या कर रहे हैं—] 'तत्त्व' दश प्रकार है; जैसे—१. मूल०, २. लक्षण०, ३. अविपर्यास०, ४. फल०, ५. औदारिकसूक्ष्म०, ६. प्रसिद्ध०, ७. बिशुद्धिगोचर०, ८. संग्रह०, ९. प्रभेद०, एवं १०. कौशल्य तत्त्व । वस्तुतः देखा जाय तो इन सभी तत्त्वों का मूलतत्त्व में अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु यहाँ जिज्ञासु को इस विषय में विस्तृत रूप से समझाने के लिये इस दश प्रकार से विभाजन करके विस्तृत व्याख्यान कर रहे हैं । वह मूलतत्त्व १. परिकल्पित, २. परतन्त्र एवं ३. परिनिष्पन्न भेद से तीन स्वभाववाला है ॥ १–२ ॥

मूलतत्त्व—यह त्रिस्वभाव वाला मूलतत्त्व १. जब परिकल्पित स्थिति में होता है तब वह स्वरूपाभाव के कारण नित्य असत् ही होता है । २. जब परतन्त्रस्थिति में होता है तब व्यवहार में सत् होता है, परमार्थतः तो वहाँ भी असत् ही है । ग्राह्य-ग्राहकादि द्वारा कल्पित व्यवहार के आश्रित होने के कारण वही उसकी सत्ता मान लेते हैं । फिर भी सचाई यह है कि/ उस समय जो कहा जा रहा है वह तो

तदस्ति, यथा ख्याति न तथास्ति, अतो भ्रान्तिरिति। परिनिष्पन्नलक्षणं सदसत्तत्वम्। द्वयाभावस्वभावात्मकत्वात् सत्वम्। द्वयाभावात्मकत्वात् असत्वम्। विशुद्ध्यालम्बनत्वात् निर्विकारत्वात् नित्यं तथा भावात् तत्त्वम्॥ ३॥

२. लक्षणतत्त्वम्

समारोपापवादस्य धर्मपुद्गलयोरिह।
ग्राह्यग्राहकयोश्चापि भावाभावे च दर्शनम्॥ ४॥
यज्ज्ञानान्न प्रवर्तेत तद्धि तत्त्वस्य लक्षणम्।

पुद्गलधर्मयोः समारोपापवाददर्शनं यज्ज्ञानान्न प्रवर्तते तत् परिकल्पितस्वभावे तत्वलक्षणम्। आत्मा रूपादयश्च धर्माः परमार्थतः सन्तीत्यभिनिवेशः समारोपदर्शनम्। व्यवहारतोऽपि न सन्तीत्यपवाददर्शनम्। परिकल्पितावबोधाद् धर्मपुद्गलयोः ग्राह्यग्राहकयोः समारोपापवाददर्शनं न प्रवर्तते। यस्य लक्षणस्य ज्ञानाद् ग्राह्यग्राहकयोः समारोपापवाददर्शन न प्रवर्तते, तत् परतन्त्र स्वभावे तत्वलक्षणं ज्ञातव्यम्। यस्य लक्षणस्य ज्ञानात् ते भावाभावदर्शने न प्रवर्तेते, तत् परिनिष्पन्नस्वभावे तत्त्वलक्षणम्॥ ४॥

३. अविपर्यासतत्त्वम्

असदर्थो ह्यनित्यार्थो उत्पादव्ययलक्षणः॥ ५॥

है पर जैसा कहा जा रहा है वैसा नहीं है, अतः इसे भ्रान्ति ही समझना चाहिए। ३. परिनिष्पन्न स्थिति में वही सदसत् लक्षण वाला है। या यों कहिये कि द्वयाभावस्वभावात्मक होने से वह सत् कहलाता है और द्वयाभावात्मक होने से असत् कहलाता है। 'तत्त्व' इसे इस लिये कहते हैं कि वह विशुद्धि का आलम्बन है, निर्विकार है और नित्य तथाभाव वाला है॥ ३॥

२. लक्षणतत्त्व--१. पुद्गल और धर्म का समारोपदर्शन एवं अपवाददर्शन जिस लक्षण के ज्ञान से प्रवृत्त न होता हो वह परिकल्पितस्वभाव में तत्त्वलक्षण है। 'आत्मा और रूपादि धर्म परमार्थतः है'--इस अभिनिवेश को 'समारोपदर्शन' एवं 'व्यवहार में भी वे नहीं है' इसको 'अपवाददर्शन' कहते हैं। परिकल्पितज्ञान होने से धर्म और पुद्गल में ग्राह्य-ग्राहक में समारोप-अपवाद दर्शन प्रवृत्त नहीं होता। २. जिस लक्षण के ज्ञान से ग्राह्य-ग्राहक में समारोप एवं अपवाद दर्शन नहीं होता उस ज्ञान को परतन्त्र स्वभाव में तत्त्वलक्षण जानना चाहिये। और ३. जिस लक्षण के ज्ञान से वे पूर्वोक्त ग्राह्य-ग्राहकभावाभावदर्शन प्रवृत्त नहीं होते उसे परिनिष्पन्नस्वभाव में तत्त्वलक्षण जानना चाहिये॥ ४॥

समलाऽमलभावेन मूलतत्त्वे यथाक्रमम् ।

त्रिविधो ह्यनित्यार्थः । असदर्थः परिकल्पिते । उत्पादव्ययार्थः परतन्त्रे । आगन्तुकमलार्थः परिनिष्पन्ने । वस्तुतस्तु परिनिष्पन्नोऽविकारधर्मा ॥ ५ ॥

दुःखमादानलक्ष्माख्यं सम्बन्धेनापरं मतम् ॥ ६ ॥

दुःखमपि त्रिविधम्—उपादानदुःखं परिकल्पिते, लक्षणदुःखं परतन्त्रे, सम्बन्धदुःखं परिनिष्पन्ने । कल्पितस्वभाव उपादानतो दुःखम् । 'अपरिज्ञातेन इहामुत्र वा दुःखमुपादीयते'—इति दुःखम् । पुद्गलधर्माभिनिवेशोपादानात् दुःखप्रबन्धः, न पुनः परिकल्पित एव दुःखम्; तदभावात् । परतन्त्रस्वभावो लक्षणतो दुःखम् । तस्मिन् दुःखदुःखता, विपरिणामदुःखता, संस्कारदुःखता च । परिनिष्पन्नः सम्बन्धतो दुःखम्, परतन्त्रस्वभावस्य धर्मतेति कृत्वा । प्रकृत्या तु निर्मलमेव ॥ ६ ॥

अभावश्चाप्यतद्भावः प्रकृतिः शून्यता मता ।

शून्यताऽपि त्रिविधा—१. अभावशून्यता परिकल्पितस्य; तस्य शशविषाणादिस्वरूपात् । २. अतद्भावशून्यता परतन्त्रस्य; स तथा नास्ति यथा बालैः परिकल्प्यते, तथा चास्ति यथा शुद्धलौकिकज्ञानेनाधिगम्यते; ३. प्रकृतिशून्यता परिनिष्पन्नस्य; द्वयाभावस्वभावत्वात् ॥

---

३. अविपर्यासतत्त्व—नित्यादि विपर्यास के प्रतिपक्ष से अनित्य-दुःख-शून्या अनात्मता ही मूलतत्त्व में यथाक्रम है । मूलतत्त्व कहते हैं परिकल्पतादि तीन स्वभावों को । उनमें असदर्थ क्रमशः—१. अनित्यार्थ, २. उत्पादव्ययार्थ एवं समलामलतार्थ है ॥ ५ ॥

मूलतत्त्व के इन तीन स्वभावों में दुःख को यथाक्रम १. पुद्गलधर्माभिनिवेश के उपादान के कारण उपादान से परिकल्पित, २. त्रिदुःखतालक्षण के कारण लक्षण से परतन्त्र और ३. दुःखसम्बन्ध के कारण सम्बन्ध से परिनिष्पन्न जानना चाहिये । वस्तुतः परिनिष्पन्न तो अविकारधर्मा ही है ॥ ६ ॥

शून्यता भी त्रिविध है—१. अभावशून्यता, २. अतद्भावशून्यता, और ३. स्वभावशून्यता । कहने का तात्पर्य यह है कि १. परिकल्पित के स्वभाव का लक्षण किसी भी प्रकार से नहीं है—इसलिए यहाँ अभाव ही शून्यता है । और २. परतन्त्रलक्षण वैसा नहीं है जैसी उसकी परिकल्पना की जाती है; परन्तु वह सर्वथा नहीं है—ऐसा भी नहीं है, अतः उसमें अतद्भावशून्यता है । एवं ३. परिनिष्पन्नलक्षण तो नैरात्म्य स्वभाव वाला है, अतः वह स्वभावतः ही शून्य है ।

अलक्षणञ्च नैरात्म्यं तद्विलक्षणमेव च ॥ ७ ॥
स्वलक्षणञ्च निर्दिष्टम्,

नैरात्म्यं च त्रिविधम्—१. अलक्षणनैरात्म्यं परिकल्पितस्य, तस्य लक्षणाभावात्। २. विलक्षणनैरात्म्यं परतन्त्रस्य, यस्मात् परतन्त्रस्यास्ति लक्षणं वस्तुरूपं न तु द्वयत्वं यथा बालैः कल्प्यते। ३. स्वलक्षणनैरात्म्यं परिनिष्पन्नस्य, ग्राह्यग्राहकाभावरूपत्वात् ॥ ७ ॥

४. फलहेतुतत्त्वम्

दुःखसत्यमतो मतम्।

त्रिविधं दुःखसत्यम्—कल्पितस्य अनात्मत्वात्, परतन्त्रस्य अनित्यत्वात्, निष्पन्नस्य शून्यत्वात्।

वासनाऽथ समुत्थानमविसंयोग एव च ॥ ८ ॥

त्रिविधं समुदयसत्यम्—कल्पितस्य वासनासमुदयः, परतन्त्रस्य समुत्थानसमुदयः, परिनिष्पन्नस्य अविसंयोगसमुदयः। यावदावरणैर्न विसंयुक्ता तथता तावत् समुदेति दुःखमिति ॥ ८ ॥

स्वभावद्वयनोत्पत्तिर्मलशान्तिद्वयं मतम्।

नैरात्म्य भी तीन प्रकार का है—१. अलक्षण०, २. तद्विलक्षण०, एवं ३. स्वलक्षणनैरात्म्य। परिकल्पित स्वभाव का लक्षण ही नहीं है, अतः उसे 'अलक्षण०' कहते हैं। परतन्त्रस्वभाव का लक्षण तो है, परन्तु वह वैसा नहीं है जैसी उसकी परिकल्पना की जा रही है, अतः उसे 'तद्विलक्षण०' कहते हैं। और परिनिष्पन्न तो स्वभावतः ही नैरात्म्य है, अतः उसे 'स्वलक्षणनैरात्म्य' कहते हैं।

शून्यता और निरात्मता (नैरात्म्य) में क्या भेद है ? जो जहाँ नहीं है वह उससे 'शून्य' है, और जो जिसका आत्मा (स्वभाव) नहीं बन सकता वह उसका 'अनात्मा' है– ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं; वास्तविकता यह है कि अर्थतः तो इन दोनों में कोई भेद नहीं है, किन्तु व्यवस्थानभेद से भेद है; क्योंकि जो जहाँ नहीं है उससे उसकी निःस्वभावता को लेकर 'नैरात्म्य' है, एवं दूसरी जगह उसकी अनिष्पन्नस्वभावता को लेकर 'शून्यत्व' है ॥ ७ ॥

४. फलहेतुतत्त्व—दुःखसत्य, दुःखसमुदयसत्य एवं दुःखनिरोधसत्य 'फलहेतुतत्त्व' कहलाते हैं। इनमें १. दुःखसत्य का अभी पीछे अनित्य, दुःख, शून्यता और अनात्मता (नैरात्म्य) भेद से विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। २. त्रिविध समुदयार्थ से दुःखसमुदय 'फलहेतुतत्त्व' कहलाता है। इसमें 'समुदयार्थ' क्या है ? वही बता रहे हैं—'समुदय' तीन प्रकार का है—१. वासना०, २. समुत्थान० एवं ३. अविसंयोगसमुदय। १. यहाँ परिकल्पित स्वभाव वासनासमुदय है; क्योंकि परि-

त्रिविधं निरोधसत्यम्—१. स्वभावानुत्पत्तिः, स्वभावनिरोधः; कल्पितस्य तस्य निःस्वभावत्वात् आत्यन्तिकनिरोधो बन्ध्यापुत्रवत्। ग्राह्यग्राहकद्वयस्यानुत्पत्तिनिरोधः परतन्त्रस्य; ताभ्यामत्यन्तरहितत्वात्। २. मलद्वयशमो निष्पन्नस्य। मलं द्विविधम्–रागाद्यावरणम्, परिकल्पितं च। ३. प्रतिसंख्यानिरोधस्तथता। तत्रानास्रवेण ज्ञानेन आश्रयात् बीज उद्धृते रागादिमलानामत्यन्तमनुत्पादात्मिका शान्तिः प्रतिसंख्यानिरोधः।

परिज्ञायां प्रहाणे च प्राप्तिसाक्षात्कृतावपि ॥ ९ ॥
मार्गसत्यं समाख्यातम्,

त्रिविधं मार्गसत्यम्—१. परिकल्पितस्य परिज्ञानमेव, न प्रहाणम्। न हि असतः प्रहाणं युज्यते। २. परतन्त्रस्य परिज्ञानं प्रहाणं च। परतन्त्रो हि यथा ख्याति यच्चास्ति तथा परिज्ञेयः; कर्मक्लेशयोर्भावात्मत्वात् प्रहातव्यश्च। ३. परिनिष्पन्नस्य परिज्ञानं प्राप्तिसाक्षात्करणं चेति। भावाभावविनिर्मुक्तलक्षणतः परिज्ञेयः, आश्रयपरावृत्तित्वेन साक्षात्कर्तव्यश्च ॥ ९ ॥

कल्पित में 'स्वभाव है'—ऐसा अभिनिवेश करके लौकिक धर्म विकल्पक्लेशवासना को व्यवस्थापित करते हैं। २. परतन्त्रस्वभाव समुत्थानसमुदय है। 'समुत्थान' कहते हैं आत्मलाभ को। वह जिससे हो वह 'समुत्थानसमुदय' है। उसका स्वरूप क्या है? भाष्यकार उसका उत्तर देते हैं—कर्मजन्यक्लेश। वे वस्तुरूप होने से परतन्त्रस्वभाव हैं। ३. तथता के आवरणाविसंयोग को 'अविसंयोगसमुदय' कहते हैं॥ ८॥

त्रिविध निरोध से निरोधसत्य संगृहीत होता है। तीन निरोध ये हैं—१. स्वभावद्वयानुत्पत्ति (ग्राह्य-ग्राहक की अनुत्पत्ति), २. प्रतिसंख्यानिरोध एवं ३. तथता। यह त्रिविध निरोध ही स्वभावनिरोध, द्वयनिरोध एवं प्रकृतिनिरोध कहलाता है।

प्रसङ्गतः यह प्रश्न उठता है कि यह मार्गसत्य त्रिविध मूलतत्त्व में कैसे व्यवस्थापित किया जाता है? परिकल्पित में उसका परिज्ञान ही होता है, प्रहाण नहीं; क्योंकि परिकल्पित के असत् होने से उसका परिज्ञान तो हो सकता है, प्रहाण क्या होगा! परतन्त्र का परिज्ञान और प्रहाण दोनों होंगे। तथा परिनिष्पन्न भावाभावविनिर्मुक्त है अतः वह आश्रयपरावृत्ति होने के कारण परिज्ञेय है। निरोध का साक्षात्कार प्राप्तिसाक्षात्कार से और शून्यता का विनिर्मुक्तधर्मकाय होने से करना चाहिये। दूसरे विद्वान् दोनों का दोनों से साक्षात्कार मानते हैं।

परिज्ञा द्विविध है—१. ज्ञानपरिज्ञा और २. प्रहाणपरिज्ञा। साक्षात्क्रिया भी द्विविध ही है—१. ज्ञानसाक्षात्क्रिया, और २. प्राप्तिसाक्षात्क्रिया। इनमें ज्ञानसाक्षात्क्रिया से तीनों सत्यों का और प्राप्तिसाक्षात्क्रिया से तीसरे (निरोध) का ही साक्षात्कार करना चाहिये ॥ ९ ॥

५. औदारिकसूक्ष्मतत्त्वम्

प्रज्ञप्तिप्रतिपत्तितः ।
तथोद्भावनयौदारं परमार्थन्तु एकतः ।। १० ।।

इदानीमौदारिकसूक्ष्मतत्त्वं दर्शयति । औदारिकं संवृतिसत्यम्; असमाहितज्ञानविषयत्वात् । सूक्ष्मं परमार्थसत्यम् ।

त्रिविधा हि संवृत्तिः—१. असतोऽर्थस्य रूपं घटः पटश्चेति व्यवस्थानं प्रज्ञप्तिसंवृतिः । अभिलापापेक्षया यद्व्यवह्रियते—रूपं वेदनेति वा, तत् प्रज्ञप्तिसंवृतिरित्यन्ये । चित्तचैत्तवदसत्त्वात् परिकल्पितः स्वभावः । २. रूपादीनां घटादीनां च विज्ञाननिर्भासाऽबहिर्भूतानामपि बहिर्भूतानामिव वस्तुरूपेण व्यवस्थानं विकल्पः स प्रतिपत्तिसंवृतिः परतन्त्रस्वभावः । ३. विकल्पाभिलापातिक्रान्तस्यापि परिनिष्पन्नस्य शून्यतातथतानिर्मलादिभिः पर्यायैः संदर्शनम् उद्भावनासंवृतिः । संवृतिः=व्यवहारः । प्रज्ञप्तिः=अभिधानम् । अर्थाभावेऽपि अभिधानमात्रेण व्यवहारः प्रज्ञप्तिसंवृतिः । अविद्यमानेऽर्थेऽर्थाभिनिवेशः प्रतिपत्तिरभिनिवेशविकल्पः । तथतादिशब्दैर्निरभिलाप्यस्यापि धर्मधातोर्या संसूचना सा उद्भावना । अत्र प्रज्ञप्त्योद्भावनासंवृतित्वमवसरसंग्रहव्यवस्थानं वेदितव्यम्, न तु स्वभावत इति ।। १० ।।

---

५. औदारिकसूक्ष्मतत्त्व—औदारिक तत्त्व असमाहितज्ञान का विषय होने से संवृतिसत्य है और सूक्ष्मतत्त्व परमार्थ सत्य है; इनको मूलतत्त्व में कैसे जाना जाय ? आचार्य उत्तर देते हैं—प्रज्ञप्ति और प्रतिपत्ति से । संवृति (व्यवहार) तीन प्रकार की है—१. प्रज्ञप्ति०, २. प्रतिपत्ति०, और ३. उद्भावनासंवृति । इस संवृतित्रय से संवृतिसत्य को मूलतत्त्व में यथाक्रम जानना चाहिये । परन्तु परमार्थ (सूक्ष्म) सत्य को एक परिनिष्पन्न स्वभाव से ही जानना चाहिये । इस संवृतित्रय में—

१. असत् अर्थ का रूप और घट-पट आदि नाम की व्यवस्था 'प्रज्ञप्तिसंवृति' कहलाती है ।

२. जिस विकल्प से रूपादि और घटादि का विज्ञाननिर्भास होने से, अबहिर्भूत होते हुए भी जो बहिर्भूत की तरह व्यवस्थान किया जाता है वह विकल्प ही 'प्रतिपत्तिसंवृत्ति' है ।

३. विकल्प-अभिलाप से अतिक्रान्त होते हुए भी परिनिष्पन्न का जो शून्यता, तथता, समला, निर्मला आदि पर्यायों से सन्दर्शन किया जाता है वह 'उद्भावनासंवृति' है ।। १० ।।

अर्थप्राप्तिप्रपत्त्या हि परमार्थस्त्रिधा मतः ।

परमार्थस्त्रिधा । १. अर्थपरमार्थस्तथता । परमो हि लोकोत्तरं ज्ञानम् । तस्यार्थो विषय इति कृत्वा तथता परमार्थ इत्युच्यते । २. प्राप्ति परमार्थो निर्वाणम् । एकान्तनिर्मलतथताऽऽश्रयपरावृत्तिलक्षणम् । परमश्चासावर्थश्चेति कृत्वा परमार्थः । संस्कृताऽसंस्कृतधर्माग्रत्वात् परमः । मार्गप्रयोजनत्वादर्थः । ३. प्रतिपत्तिपरमार्थो मार्गः । परमोऽस्यार्थ इति कृत्वा ।

निर्विकाराविपर्यासपरिनिष्पत्तितो द्वयम् ॥ ११ ॥

कथमसंस्कृतं निर्वाणाख्यं संस्कृतं च मार्गाख्यं परिनिष्पन्नस्वभाव उच्यते ? द्वयमपि अनन्यथाऽविपर्यासपरिनिष्पत्तितः परिनिष्पन्नमिति सम्बध्यते । असंस्कृतं निर्वाणमनन्यथाभावादविकारपरिनिष्पत्त्या परिनिष्पन्नम् । संस्कृतं मार्गाख्यं चाविपर्यासपरिनिष्पत्त्या परिनिष्पन्नमुच्यते ॥ ११ ॥

६. प्रसिद्धतत्त्वम्

लोकप्रसिद्धमेकस्मात् त्रयाद् युक्तिप्रसिद्धकम् ।

संकेतः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानम् । सांकेतेऽत्र संस्तव-स्मरणयोरपि ग्रहणम् । **संस्तवः** तद्वारम्वारं प्रयोगदर्शनम् । बुद्धेः संकेतसंस्तवानुप्रवेशः **स्मरणम्** । संकेतसंस्तवानुस्मरणानुगतया बुद्ध्या सर्वेषां लौकिकानां शास्त्रविदां तद्विदां च व्यवहाराल्लोकप्रसिद्धं तत्त्वम् । स्वभावत्रयेण युक्तिप्रसिद्धतत्त्वं

यहाँ प्रज्ञप्ति और उद्भावना संवृति का प्रासङ्गिक व्यवस्थान है, स्वभावतः नहीं ।
यों संवृतिसत्य का व्याख्यान सम्पन्न हुआ ॥

अभी हम पीछे कह आये हैं कि परमार्थ सत्य एक परिनिष्पन्नस्वभाव से ही जानना चाहिये । वह परमार्थ क्या है ? अब आचार्य यही बता रहे हैं—वह परमार्थ १. अर्थ०, २. प्राप्ति० एवं ३. प्रपत्तिपरमार्थ—इन तीन भेदों से जाना जाता है । यहाँ १. 'अर्थपरमार्थ' है तथता, क्योंकि वह परम ज्ञान का अर्थ है । २. 'प्राप्तिपरमार्थ' है निर्वाण; क्योंकि वह परम अर्थ (लक्ष्य) है । ३. 'प्रतिपत्तिपरमार्थ' है मार्ग; क्योंकि वह इसका परम अर्थ है ।

प्रश्न होता है कि असंस्कृत (निर्वाण) एवं संस्कृत (मार्ग) को परिनिष्पन्नस्वभाव क्यों कहा जाता है ? असंस्कृत को अविकारपरिनिष्पत्ति से और मार्गसत्यसंगृहीत संस्कृत को अविपर्यासपरिनिष्पत्ति से परिनिष्पन्नस्वभाव कहा जाता है ॥११॥

६. प्रसिद्धतत्त्व—इस तत्त्व को मूलतत्त्व में कैसे व्यवस्थापित किया जाय ? इस पर आचार्य कहते हैं—यह प्रसिद्धतत्त्व द्विविध है । जैसे—१. लोकप्रसिद्ध और २. युक्तिप्रसिद्ध । वहाँ लोकप्रसिद्ध एक (परिकल्पितस्वभाव) से ही व्यवस्थित किया जाता है । १. जिस वस्तु में संकेत (संज्ञासंज्ञिसम्बन्धग्राह) या संस्तव में अनु-

व्यवस्थाप्यते युक्तार्थपण्डितानां कृते प्रमाणत्रयं निश्रित्येति। प्रमाणत्रयम्—प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, आगमश्च। तत्र प्रत्यक्षम्--पञ्चेन्द्रियजं मानसं च सुख-दुःखादिसम्वेदनम्। त्रिरूपलिङ्गेनानुमेयार्थज्ञानम् अनुमानम्। आप्तवाग् आगमः। आप्तः पुनरनृतहेतुविमुक्तः।

७. विशुद्धिगोचरतत्त्वम्

विशुद्धगोचरं द्वेधा,

विशुद्धिगोचरतत्त्वं द्विविधम्—क्लेशावरणविशुद्धिज्ञानगोचरम्, ज्ञेयावरण-विशुद्धिज्ञानगोचरं च। **विशुद्धिः**=आवरणप्रहाणम्। विशुद्धये, विशुद्धौ वा ज्ञानं विशुद्धिनिमित्तं वेत्यर्थः। तस्य **गोचरो** विषय इति। तत्र १. क्लेशावरणम् सर्वे दर्शनभावनामार्गप्रहातव्याः क्लेशोपक्लेशाः। २. ज्ञेयावरणञ्च ज्ञानविबन्ध-भूतमक्लिष्टम् अज्ञानम्, तद्विशोधनं लोकोत्तरज्ञानानुलोमाधिमुक्तिचर्या-भूमिसंगृहीतम्। तत्पृष्ठलब्धं च ज्ञानम्।

एकस्मादेव कीर्तितम् ॥ १२॥

इदं द्विविधमपि विशुद्धिगोचरमेकस्मात् परिनिष्पन्नात् तत्त्वात् कीर्ति-तम्। न ह्यन्यः स्वभावो विशुद्धिज्ञानगोचरो भवति; अभूतपरिकल्पस्य पर-तन्त्रस्य समलभूतत्वात्, परिकल्पितस्य चाऽसत्त्वात्॥ १२॥

प्रविष्ट बुद्धि से सभी लौकिकों (शब्दों) की दर्शनतुल्यता (ज्ञानसाम्य) होती हो, जैसे—'यह पृथ्वी ही है, अग्नि नहीं' या 'यह शब्द नहीं' आदि, उसे 'लोकप्रसिद्ध' तत्त्व कहते हैं. परिकल्पितस्वभाव के कारण। और २. युक्तिपण्डित नैयायिकों द्वारा मान्य प्रत्यक्षादि प्रमाणत्रय के सहारे या उपपत्तिसाधन की युक्ति (तर्क) के सहारे से जो वस्तु प्रसिद्ध हो उसे 'युक्तिप्रसिद्ध तत्त्व' कहते हैं।

७. विशुद्धिगोचरतत्त्व—यह तत्त्व भी द्विविध है—१. क्लेशावरणविशुद्धिज्ञान-गोचर एवं २. ज्ञेयावरणविशुद्धिज्ञानगोचर। विशुद्धि का अर्थ है—आवरणप्रहाण। विशुद्धि के लिये या विशुद्धि में ज्ञानगोचर को 'विशुद्धिज्ञानगोचर' कहते हैं। उस का गोचर अर्थात् विषय। वहाँ क्लेशावरण हैं सभी दर्शनभावनामार्गप्रहातव्य क्लेशोपक्लेश। और ज्ञेयावरण है—ज्ञाननिबन्धनभूत अक्लिष्ट अज्ञान। उसका विशोधन होता है लोकोत्तरज्ञानानुलोम अधिमुक्तिचर्याभूमिसंगृहीत और तत्पृष्ठलब्ध ज्ञान से।

यह विशुद्धिगोचर द्विविध होता हुआ भी एक (परिनिष्पन्न) तत्त्व से ही कहा गया है; क्योंकि अन्य (दो) स्वभाव विशुद्धिज्ञानगोचर नहीं होते। कारण कि अभूतपरिकल्प परतन्त्र तो समल है और परिकल्पित की सत्ता ही नहीं है॥ १२॥

८. संग्रहतत्त्वम्

निमित्तस्य विकल्पस्य नाम्नश्च द्वयसङ्ग्रहः ।

तत्र **संग्रहतत्त्वं** यथायोगं पञ्च वस्तूनि—निमित्तम्, नाम, विकल्पः, सम्यग्ज्ञानं, तथता चेति । १. निमित्तमालयविज्ञानम्, क्लिष्टम् मनः, प्रवृत्तिविज्ञानानि च । अन्योन्यनिमित्तभावान्निमित्तम् । २. नाम तदभिधानम् । ३. विकल्पस्तु त्रैधातुकाश्चित्तचैत्ताः । ४. सम्यग्ज्ञानं लोकोत्तरं तथतालम्बनम् । ५. तथता शून्यता ।

सम्यग्ज्ञानसतत्त्वस्य एकेनैव च सङ्ग्रहः ॥ १३ ॥

तत्र निमित्तविकल्पयोः परतन्त्रे, नाम्नः परिकल्पिते, तथतासम्यग्ज्ञानयोश्च परिनिष्पन्ने संग्रहः । सदा शोभनं तत्त्वं सतत्त्वं तथता । शून्यतालम्बनाऽद्वयज्ञानम्, तत्पृष्ठलब्धशुद्धलौकिकं च सम्यग्ज्ञानम् ॥ १३ ॥

९. प्रभेदतत्त्वम्

प्रवृत्तितत्त्वं द्विविधं सन्निवेशः कुपन्नता ।

प्रवृत्तितत्त्वं परिकल्पित-परतन्त्रभेदेन द्विविधम् । प्रवृत्तिर्जन्मिनामनादिमान् प्रबन्धः । स चाविद्यमानत्वात् परिकल्पितः स्वभावः । येषां तु स प्रबन्धस्ते हेतुप्रभावितत्वात् परतन्त्रस्वभावः । एषां या प्रवृत्तिस्तत् प्रवृत्तितत्त्वम् ।

अथवा—क्लेशकर्मजन्मनामनादिमान् प्रवाहः संसारप्रवृत्तिः । तत्र प्रवृत्तौ संन्निवेशः सन्निवेशतत्त्वं दुःखसत्यम् । मिथ्याप्रतिपत्तिः कुपन्नता समुदयसत्यम् ।

---

८. संग्रहतत्त्व—इस त्रिविध मूलतत्त्व में संग्रहतत्त्व को कैसे जानना चाहिये ? निमित्त, नाम, विकल्प, सम्यग्ज्ञान और तथता—इन पाँच वस्तुओं का सहारा लेकर। अर्थात् समग्र ज्ञेय का इन पञ्चविध वस्तुओं में संग्रह होने से यह पञ्चविध वस्तु 'संग्रहतत्त्व' कहलाती है । वहाँ निमित्त और विकल्प का परतन्त्र में, नाम का परिकल्पित में, एवं तथता और सम्यग्ज्ञान का परिनिष्पन्न में संग्रह है ॥ १३ ॥

९. प्रभेदतत्त्व—इस तत्त्व को मूलतत्त्व में कैसे जानना चाहिये ? यह तत्त्व सात प्रकार का है—१. प्रवृत्तितत्त्व, २. लक्षण०, ३. विज्ञप्ति०, ४. सन्निवेश०, ५. मिथ्याप्रतिपत्ति०, ६. विशुद्धि०, और ७. सम्यक्प्रतिपत्तितत्त्व । सन्धिनिर्मोचन सूत्र में जिस सप्तविध तथता का वर्णन हुआ है उससे द्विविध प्रवृत्तितत्त्व—परिकल्पित एवं परतन्त्र को जानना चाहिये । इसी तरह सन्निवेश को (दुःखसत्य) प्रतिपत्ति और मिथ्याप्रतिपत्ति कुपन्नता (समुदयसत्य) को भी द्विविध जानना चाहिये । पुद्गलधर्म-

एकं लक्षणविज्ञप्तिशुद्धिसम्यक्प्रपन्नता ॥ १४ ॥

लक्षणतत्त्वम्, विज्ञप्तितत्त्वम्, विशुद्धितत्त्वम्, सम्यक्प्रतिपत्तितत्त्वमिति चत्वारि तत्त्वानि। एकमेव मूलतत्त्वं यदुत परिनिष्पन्नस्वभावः। लक्षणतत्त्वं पुद्गलधर्मनैरात्म्यम्। विज्ञप्तितत्त्वं विज्ञप्तिमात्रता धर्माणाम्। विशुद्धितत्त्वं क्लेशविशुद्धिर्निरोधसत्यम्। सम्यक्प्रतिपत्तितत्त्वं मार्गसत्यम्। इमे सप्त भेदाः प्रभेदतत्त्वस्येति ॥ १४ ॥

१०. कौशल्यतत्त्वम्

एक हेतुत्व-भोक्तृत्व-कर्तृत्व-वशवर्तने ।
आधिपत्यार्थ-नित्यत्वे क्लेशशुद्ध्याश्रयेऽपि च ॥ १५ ॥
योगित्वामुक्तमुक्तत्वे आत्मदर्शनमेषु हि ।

कौशल्यं स्कन्धादिषु वैचक्षण्यम्। दशविधा आत्मग्राहाः स्कन्धादिषु प्रवर्तन्ते। तस्मात् तेषां प्रतिपक्षत्वेन दशविधं स्कन्धादिकौशल्यमुक्तम्। स्कन्धादिव्यतिरिक्त आत्मा युक्त्या परीक्ष्यमाणो नोपलभ्यते। तथा हि एकत्वग्राहः पञ्चोपादानस्कन्धेषु पिण्डात्मग्राहतः। तत्प्रतिपक्षेण स्कन्धकौशल्यम्। हेतुत्वग्राहश्चक्षुरादीनां प्रयोजकत्वादात्मनि हेतुत्वग्राहः। तत्प्रतिपक्षेण धातुकौशल्यम्। एवमन्येष्वपि ॥ १५ ॥

परिकल्प-विकल्पार्थ-धर्मतार्थेन तेषु ते ॥ १६ ॥

त्रिषु स्वभावेषु ते स्कन्धादयोऽन्तर्भूताः। तत्र त्रिविधं रूपम्—१. परिकल्पितरूपं यद् रूपस्य परिकल्पितः स्वभावः। २. विकल्पितरूपम् यद् रूपस्य

नैरात्म्य लक्षणतत्त्व है। धर्मों की विज्ञप्तिमात्रता विज्ञप्तितत्त्व है। क्लेशविशुद्धि (निरोधसत्य) विशुद्धितत्त्व है। तथा मार्गसत्य सम्यक्प्रतिपत्तितत्त्व है। ये चारों एक परिनिष्पन्नलक्षण मूलतत्त्व में ही मिलते हैं ॥ १४ ॥

१०. कौशल्यतत्त्व—'कौशल्य' कहते हैं स्कन्धादि में विचक्षणता को। इन दशविध स्कन्धादि में आत्मग्राह (आत्मदर्शन) कैसे और क्या होता है? जैसे—१. एकत्वग्राह, २. हेतुत्व०, ३. भोक्तृत्व०, ४. कर्तृत्व०, ५. स्वतन्त्रत्व०, ६. अधिपतित्व०, ७. नित्यत्व०, ७. संक्लिष्टव्यवदानत्व०, ९. योगित्व एवं १०. अमुक्तमुक्तत्वग्राह। यह दशविध कौशल्यतत्त्व मूलतत्त्व में कैसे अन्तर्भूत हो जाता है? क्योंकि इन परिकल्पितादि तीनों स्वभावों में वे स्कन्धादि भी अन्तर्भूत हैं ॥ १५ ॥

कैसे अन्तर्भूत हैं? रूप त्रिविध होता है—१. परिकल्पितरूप, वह जो रूप का परिकल्पित स्वभाव है; २. विकल्पित रूप, जो रूप का परतन्त्र स्वभाव है; ३. धर्मतारूप, जो रूप का परिनिष्पन्न स्वभाव है। (जैसे रूप वैसे ही वेदना आदि अन्य

परतन्त्रः स्वभावः । ३. धर्मतारूपम् यद् रूपस्य परिनिष्पन्नः स्वभावः । एवं वेदनादयः स्कन्धा धात्वादयश्च योज्याः ॥ १६ ॥

(क) स्कन्धार्थः

अनेकत्वाभिसंक्षेपपरिच्छेदार्थ आदितः ।

आदितः स्कन्धा उच्यन्ते । ते च त्रिविधेनार्थेन वेदितव्याः । १. अनेकार्थेन "यत् किञ्च रूपं अतीतानागतप्रत्युत्पन्नम्, आध्यात्मिकं वा बाह्यं वा, औदारिकं वा सूक्ष्मं वा, हीनं वा प्रणीतं वा, दूरे वा अन्तिके वा"—इत्येवमनेकार्थेन बहूनां द्रव्याणां स्कन्धशब्दोक्तत्वात् । २. अभिसंक्षेपार्थेन स्कन्ध इति एकीकृत्य । ३. परिच्छार्थेन इति पृथग् व्यवस्थाप्य । तत्र योऽयमेकात्मग्राहो यथा 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यादि, तस्य प्रतिपक्षेण स्कन्धार्थे कौशल्यकृत्यमुक्तम् ।

(ख) धात्वर्थः

ग्राहकग्राह्यतद्ग्राहबीजार्थश्चापरो मतः ॥ १७ ॥

'अपरः' शब्दोऽत्र धातौ सम्बध्यते । बीजार्थो धात्वर्थः । स च फलभेदात् त्रिधा—१. ग्राहकधातुः, २. ग्राह्यधातुः, ३. तद्ग्राहधातुश्च । १. ग्राहकबीजार्थ श्चक्षुर्धात्वादयः । रूपादिविषयग्राहाश्रयभूतत्वाद् ग्राहकाः । सजातीयानां चक्षुरादीनां हेतुत्वाद् धातवः । ते च चक्षुरादयो मनःपर्यन्ताः ।

स्कन्धों की तथा धात्वायतनादि की भी योजना कर लेनी चाहिये ।) इस तरह तीनों स्वभावों में स्कन्धादि का अन्तर्भाव होने से यह दशविध कौशलतत्त्व मूलतत्त्व में ही जानना चाहिये ॥ १६ ॥

यों दशविध कौशलतत्त्व का निरूपण सम्पन्न हुआ ॥

[अब आचार्य प्रसङ्गप्राप्त स्कन्धादि के अर्थ का व्याख्यान कर रहे हैं—]

(क) स्कन्धार्थ—पहले स्कन्धों के विषय में विचार करते हैं । उन्हें इन त्रिविध अर्थों से जानना चाहिये । १. अनेकत्वार्थ, जैसे—"जो कुछ भी अतीतानागतप्रत्युत्पन्न है वह रूप है" आदि से, २. अभिसंक्षेपार्थ (इसी विस्तार को संक्षिप्त करने) से, और ३. परिच्छेदार्थ (रूपादि लक्षण का पृथक्त्वेन व्यवस्थान) से जानना चाहिये । यहाँ 'स्कन्ध' शब्द 'राशि' अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि लोकव्यवहार में भी 'स्कन्ध' शब्द राशि अर्थ में प्रयुक्त हुआ देखा जाता है ॥

(ख) धात्वर्थ—कारिका में 'अपरः' शब्द धातु से सम्बद्ध है । धातु का अर्थ है 'बीज' । यह धात्वर्थ भी त्रिविध है—१. ग्राहकबीजार्थ (चक्षुर्धात्वादि), २. ग्राह्यबीजार्थ (रूपधात्वादि), और ३. तद्ग्राहबीजार्थ (चक्षुर्विज्ञानधातु आदि) ।

२. ग्राह्यबीजार्थो रूपधात्वादयो धर्मधातुपर्यन्ताः। चक्षुरादिविज्ञानविषयत्वाद् ग्राह्याः। सभागानां रूपादीनां हेतुभूतत्वाद् धातवः। ३. तद्ग्राहबीजार्थश्चक्षुर्विज्ञानधात्वादयो मनोविज्ञानपर्यन्ताः। रूपादिप्रतिपत्तिस्वभावत्वाद् रूपादिग्राहाः। सभागानां चक्षुरादिविज्ञानानां हेतुभूतत्वाद् धातवः ॥ १७ ॥

(ग) आयतनार्थः

वेदितार्थपरिच्छेदभोगायद्वारतोऽपरम् ।

'अपरम्' इति शब्देन आयतनम् गृहीतम्। आयद्वारः=आयतनम्। आयः=आगमः। तं वेदितार्थपरिच्छेदोपभोगयोस्तन्वन्तीत्यायतनानि। वेदितं हि सुख-दुःखाऽसुखदुःखम्। तदेवोपभुज्यते=अनुभूयते इति उपभोगः। तत्र वेदनोपभोगायद्वारार्थेन षडाध्यात्मिकानि आयतनानि। अर्थपरिच्छेदोपभोगायद्वारार्थेन षड् बाह्यानीति। भोक्ता आध्यात्मिकान्यायतनानि, भोजनमायतनानि बाह्यानि नान्यो भोक्तेत्यात्मनि भोक्तृत्वग्राहो व्यावर्तते। इदमायतनकौशल्यम्।

ननु रूपादीनां चक्षुरादीनां आयतनानामपि परिकल्पितत्वात् आत्मवत् प्रतिषेधो भवेदिति ? नैष उपालम्भः; यस्मात् परिकल्पितरूपस्यैवात्र प्रतिषेधः क्रियते, न विकल्पितरूपस्येति। न च बाह्यार्थ आलम्बनप्रत्ययो विज्ञानस्य; तेन विनापि भावात्। तस्मात् सर्वमेव विज्ञानं बाह्यार्थालम्बननिरपेक्षकमभ्युपगन्तव्यम्।

(घ) प्रतीत्यसमुत्पादार्थः

पुनर्हेतुफलायासानारोपानपवादतः ॥ १८ ॥

आयासः=क्रिया। हेतु-फल-क्रियाणामनारोपानपवादार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। तत्र—

यहाँ पूर्वचक्षु-आदि उत्तरचक्षु-आदि के हेतु होते हैं, वहाँ कोई अन्य आत्मा-आदि हेतु नहीं है—यों धातुकौशल से हेतुग्राह की निवृत्ति हो जाती है ॥ १७ ॥

(ग) आयतनार्थ—कारिका में आये 'अपरम्' शब्द का अर्थ 'आयतन' करना चाहिये। आय (आगम) का द्वार ही आयतन है। वहाँ १. वेदितोपभोग के लिये द्वारार्थ के द्वारा छह आध्यात्मिक आयतन हैं और २. अर्थपरिच्छेदोपभोग के लिये छह बाह्य आयतन हैं। यहाँ भोक्ता हैं आध्यात्मिक आयतन और भोजन है बाह्य आयतन, अन्य कोई आत्मा आदि उपभोक्ता नहीं है। यों आत्मा में भोक्तृत्वग्राह निवृत्त हो जाता है। यह आयतनकौशल का माहात्म्य है।

(घ) प्रतीत्यसमुत्पादार्थ—हेतु, फल और क्रिया में आत्मा या अन्य के कर्तृत्वग्राह की निवृत्ति के लिये अनारोप तथा अनपवादहेतु प्रतीत्यसमुत्पादार्थ की

१. हेतुसमारोपोऽविद्यादीन् हित्वा पुरुषेश्वराणुप्रधानादीनां विषमहेतूनां हेतुत्वकल्पनात्। हेत्वपवादोऽहेतुककल्पनात् अहेतुकोत्पादाभ्युपगमादिति। २. फलसमारोपः अविद्यादिप्रत्ययानां संस्कारादीनां फलेषु आत्मसमारोपः। फलापवादः संस्कारादीनामविद्यादिप्रत्ययाप्रवृत्तिकल्पनात् सुचरितदुश्चरित-परलोकापवादः। ३. क्रियासमारोपः अविद्यादीनां संस्काराद्युत्पत्तौ व्यापार-कल्पनात् यद् वस्तुरूपमर्थान्तरं संस्काराद्युत्पत्तौ अविद्यादयः कुर्वन्तीति। क्रियापवादोऽविद्यादीनां सत्तामात्रेण संस्काराद्युत्पादसमर्थानामपि निःसा-मर्थ्यकल्पनात्। तदभावात् असमारोपानपवादौ वेदितव्यौ। एवमिदं प्रतीत्यसमुत्पादकौशल्यम् आत्मनः अन्यस्य वा कर्तृत्वग्राहस्तस्य प्रतिपक्षेण वेदितव्यम् ॥ १८ ॥

(ङ) स्थानास्थानार्थः

अनिष्टेष्टविशुद्धीनां समोत्पत्त्याधिपत्ययोः।
सम्प्राप्तिसमुदाचारपारतन्त्र्यार्थतोऽपरम् ॥ १९ ॥

स्थानास्थानं सप्तविधपारतन्त्र्यार्थेन वेदितव्यम्। स्थानम्=हेतुः। अस्थानम्=अहेतुः। तच्च सप्तविधमपि त्रिष्वन्तर्भवति कर्म-क्लेश-जन्मपार-तन्त्र्येषु। तत्र-१. अनिष्टे पारतन्त्र्यम् दुश्चरितेन अनिच्छतोऽपि दुर्गति-

---

भावना करनी चाहिये। ये समारोप या अपवाद भी त्रिविध होते हैं; जैसे—१. हेतुसमारोप—भव की उत्पत्ति में, अविद्यादि हेतुओं को छोड़ कर पुरुष, ईश्वर, अणु, प्रधान आदि विषम हेतुओं का आरोप करना। हेत्वपवाद—अहेतुक की कल्पना के सहारे अहेतुक उत्पाद का अभ्युपगम करना। २. फलसमारोप—अविद्यादिप्रत्ययापेक्ष संस्कारादि का फलों में आत्मसमारोप करना। फलापवाद—'अविद्यादिप्रत्ययापेक्ष संस्कारादि नहीं हैं'— ऐसी कल्पना करना। ३. क्रियासमारोप—अविद्यादि का संस्कारादि की उत्पत्ति में व्यापारकल्पना। क्रियापवाद—अविद्यादि की सत्तामात्र से उत्पादसमर्थ संस्कारों में निःसामर्थ्य की कल्पना। इस तरह प्रतीत्य-समुत्पादार्थकौशल को अविद्यादि के व्यतिरेक (अभाव) आत्मा या किसी अन्य अन्य में कर्तृत्वग्राह का प्रतिपक्ष समझना चाहिये; क्योंकि सचाई तो यही है कि संस्कारों के अतिरिक्त विज्ञान का कोई कर्ता नहीं है ॥ १८ ॥

(ङ) स्थानास्थानार्थ—यह स्थानास्थान सप्तविध पारतन्त्र्यार्थ से ज्ञेय है। यहाँ स्थान का अर्थ है हेतु और अस्थान कहते हैं अहेतु को। यह स्थानास्थानार्थ सप्तविध होता हुआ भी कर्म-क्लेश एवं जन्मपारतन्त्र्य में अन्तर्भूत है। यह सात प्रकार का यों है—१. अनिष्ट में पारतन्त्र्य (दुश्चरित होने से न चाहते हुए भी दुर्गति के कार्यों की तरफ झुकना), २. इष्ट में पारतन्त्र्य (सुचरित होने से सुगति-

गमनात्। २. इष्टे पारतन्त्र्यम् सुचरितेन सुगतिगमनात्। ३. विशुद्धौ पारतन्त्र्यम् कामच्छन्दादिपञ्चनीवारणप्रहाणप्रतिबद्धता। ४. समोत्पत्तौ पारतन्त्र्यम् तथागतचक्रवर्तिनोरेकस्मिन् लोकधातावनुत्पादात्। ५. आधिपत्ये पारतन्त्र्यम् स्त्रिया चक्रवर्तित्वाद्यकरणात्। न हि स्त्रीः स्त्री–आदिरत्नोपभोग-समर्था। ६. सम्प्राप्तौ पारतन्त्र्यम् स्त्रिया प्रत्येकानुत्तरबोध्यनभिसम्बोधात्। ७. समुदाचारे पारतन्त्र्यम् दृष्टिसम्पन्नस्य प्राणातिपाताद्यसमुदाचारात्॥१९॥

(च) इन्द्रियार्थः

ग्रहण-स्थान-सन्धान-भोग-शुद्धिद्वयार्थतः ।

अर्थत इति आधिपत्यार्थतः। **इन्द्रियार्थत** इत्यर्थः। आधिपत्य-शब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः। अर्थशब्दोऽत्र प्रयोजनवाची। ग्रहणप्रयोजनं निमित्तं तदेन्द्रियमिति। रूपादिविषयाणां ग्रहणं चक्षुरादिविज्ञानम्, तत्र चक्षुरादीनां षण्णामाधिपत्यम्। स्थाने जीवितेन्द्रियस्य आधिपत्यम्। सन्धाने कुलसन्धाने सन्तानोत्पत्तौ स्त्रीपुरुषेन्द्रिययोराधिपत्यम्। भोगे उपभोगे वेदनेन्द्रियाणाम्। लौकिकशुद्धौ श्रद्धादीनाम्। लोकोत्तरशुद्धौ अनाज्ञातमादित्रयाणामिन्द्रियाणाम् आधिपत्यं वेदितव्यम्॥

कार्यों में प्रवृत्त होना), ३. विशुद्धि में पारतन्त्र्य (कामच्छन्द आदि पाँच नीवरणों के प्रहाण में प्रतिबद्धता), ४. समोत्पत्ति में पारतन्त्र्य (तथागत या चक्रवर्ती में से किसी एक समय एक लोकधातु में न होना), ५. आधिपत्य में पारतन्त्र्य (स्त्री का चक्रवर्ती आदि न होना), ६. सम्प्राप्ति में पारतन्त्र्य (स्त्री का प्रत्येकबोधि या लोकोत्तर बोधि में अनभिसम्बुद्ध होना); ७. समुदाचार में पारतन्त्र्य (दृष्टिसम्पन्न का प्राणातिपातादि में असमुदाचार होना)। इसका अधिक विस्तार बहुधातुकसूत्र में देखना चाहिये॥ १९॥

(च) इन्द्रियार्थ—पिछली कारिका के अन्त में आये 'अर्थतः' से तात्पर्य है 'आधिपत्यार्थतः' आधिपत्यार्थ का अर्थ है इन्द्रियार्थ। इसमें 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य है 'प्रयोजन'। ग्रहण के प्रयोजन का जो निमित्त हो वह है इन्द्रिय। रूपादि विषयों का ग्रहण है चक्षुर्विज्ञान, वहाँ चक्षु आदि इन्द्रियों का आधिपत्य है। स्थान में जीवितेन्द्रिय का सन्धान (कुलसन्धान, सन्तानोत्पत्ति) में स्त्री-पुरुषेन्द्रिय का, भोग (उपभोग) में वेदनेन्द्रियों का, लौकिकशुद्धि में श्रद्धेन्द्रिय का, लोकोत्तर-शुद्धि में अनाज्ञातमादि इन्द्रियों का आधिपत्य जानना चाहिये। इस तरह साधक का इन्द्रियकौशल से पुरुष नारायण ईश्वर आदि में अधिपतिग्राह विनष्ट हो जाता है॥

(छ) अध्वार्थः

फलहेतूपयोगाच्च नोपयोगात् तथाऽपरम् ॥ २० ॥

तत्र जन्मकारणं हेतुः। फलं जन्मसंगृहीतम्। फलादानं हेतोरुपयोगः। फलस्य तद्धेतोश्चोपयोगार्थेन अतीतोऽध्वा। अनुपयोगार्थेन अनागतोऽध्वा। वर्तमानः पुनरध्वा हेतोर्दत्तफलत्वात् ॥ २० ॥

(ज) चतुःसत्यार्थः

वेदनासनिमित्तार्थतन्निमित्तप्रपत्तितः ।
तच्छमप्रतिपक्षार्थयोगादपरमिष्यते ॥ २१ ॥

दुःखसत्यं वेदनासनिमित्तार्थेन। तन्निमित्तस्य कारणस्य प्रतिपत्तिः समुदयसत्यम्। तयोः शमार्थेन निरोधसत्यम्। प्रतिपक्षार्थेन मार्गसत्यम् ॥

(झ) यानत्रयार्थः

गुणदोषाविकल्पेन ज्ञानेन परतः स्वयम् ।
निर्याणादपरं ज्ञेयम्,

निर्वाणसंसारयोर्गुणदोषज्ञानेन परघोषनिश्रयेण श्रावकयानम्। स्वयं निर्णीतेन च प्रत्येकबुद्धयानम्। अविकल्पेन ज्ञानेन च महायानम् ॥

(ञ) संस्कृतासंस्कृतार्थः

सप्रज्ञप्तिसहेतुकात् ॥ २२ ॥
निमित्तात् प्रशमात् सार्थात् पश्चिमं समुदाहृतम् ॥ २३ ॥

॥ इति तत्त्वपरिच्छेदस्तृतीयः ॥

(छ) अध्वार्थ—कारिका में 'अपरम्' का अर्थ त्रिविध अध्वार्थ है। यहाँ हेतु है जन्मकारण, फल है जन्म, फलादान है हेतु का उपयोग। फल-हेतूपयोगार्थ से अतीत अध्वा, फलहेतु के अनुपयोगार्थ से अनागत अध्वा, एवं हेतु के उपयोगार्थ तथा फल के अनुपयोगार्थ से वर्तमान अध्वा को जानना चाहिये ॥ २० ॥

(ज) चतुःसत्यार्थ—इसी तरह सत्यचतुष्टय में वेदनासनिमित्तार्थ से ('जो कुछ भी हमने अनुभव किया, वह सब दुःख है'—ऐसा समझते हुए), दुःखसत्य को समझना चाहिये। तन्निमित्त कारण की प्रतिपत्ति को समुदयसत्य समझना चाहिये। उन दोनों (दुःख एवं दुःखसमुदय) के प्रशमनार्थ से निरोधसत्य एवं प्रतिपक्षार्थ से मार्गसत्य को समझना चाहिये ॥ २१ ॥

(झ) यानत्रयार्थ—१. श्रावकयान, २. प्रत्येकबुद्धयान, एवं ३. महायान—ये तीन यान होते हैं। इनमें निर्वाण एवं संसार के गुण-दोषज्ञान एवं दूसरे से सुनकर संसारनिर्गमनार्थ ज्ञान से श्रावकयान, उसी हेतु से स्वयं न सुनकर दूसरों से सुनकर संसारनिर्गमनार्थ ज्ञान से प्रत्येकबुद्धयान, तथा अविकल्प ज्ञान से महायान को जानना चाहिये, ताकि आत्मग्राह से छुटकारा मिल सके ॥ २२ ॥

संस्कृताऽसंस्कृतं सर्वपश्चात् प्रकाशितम्। तत्र संस्कृतं सप्रज्ञप्तिकात् सहेतुकाच्च निमित्तात्। असंस्कृतं पुनः सार्थात् प्रशमात् व्यवस्थापितम्। तत्र प्रज्ञप्तिर्नामकायादयः। हेतुः पुनः बोजसंगृहोतमालयविज्ञानम्। निमित्तं प्रतिष्ठादेहभोगसंगृहीतमालयविज्ञानम्। तत्र प्रतिष्ठा भाजनलोकाः। तदाभासमालयविज्ञानं प्रतिष्ठासंगृहीतम्। देहः सेन्द्रिय शरीरं तदाभासमालयविज्ञानं देहसंगृहीतम्। भुज्यते इति भोगो विषयः। तन्निर्भासं विज्ञानं भोगसंगृहीतम्। एतत् सप्रज्ञप्ति सहेतुकं निमित्तं ससम्प्रयोगं परतन्त्रस्वभावसंगृहीतत्वात् संस्कृतं वेदितव्यम्। सम्प्रयोगः=चैत्ताः ॥ २२ ॥

कस्य पुनस्तन्निमित्तम्? नामकायादीनां च चित्तचैत्तानां मनउद्ग्रह विकल्पाख्यानाम्। तत्र—मनः ससम्प्रयोगं क्लिष्टं मनः, उद्ग्रहः पञ्चविज्ञानकायाः, विकल्पो मनोविज्ञानम्। एतत् सर्वं कर्मक्लेशाभिसंस्कृतत्वात् संस्कृतम्।

असंस्कृतं पुनः प्रशमो निरोधः प्रशमार्थश्च तथतेति। प्रशमकरणात् मार्गस्यापि प्रशमे संग्रहः ॥ २३ ॥

आगमानुसारिण्यां मध्यान्तविभागटीकायाम्
आचार्यभदन्तस्थिरमतिव्याख्यातायां
तत्त्वपरिच्छेदस्तृतीयः समाप्तः ॥



(ञ) संस्कृतासंस्कृतार्थ—(इन अर्थों के व्याख्याप्रसङ्ग में आचार्य द्वारा) सब से अन्त में समुदाहृत (प्रकाशित) संस्कृतासंस्कृतार्थ भी आत्मग्राह की निवृत्ति में अत्यन्त सहायक होता है। यहाँ 'प्रज्ञप्ति' कहते हैं नाम-कायादि को, 'हेतु' कहते हैं बीजसंगृहीत आलयविज्ञान को, 'निमित्त' कहते हैं प्रतिष्ठा (भाजनलोक) देह-भोगसंगृहीत को, एवं प्रवृत्तिविज्ञानसंगृहीत मनउद्ग्रहविकल्पों को। इस सप्रज्ञप्ति सहेतुक निमित्त ससम्प्रयोग को 'संस्कृत' समझना चाहिये; क्योंकि यह परतन्त्रस्वभावसंगृहीत है। 'सम्प्रयोग' चैत्त धर्मों को कहते हैं ॥ २२ ॥

किसका वह निमित्त है? नाम कायादि का और मनउद्ग्रहविकल्पाख्य चित्तचैत्तों का। यहाँ 'मन' से ससम्प्रयोगक्लिष्ट मन को एवं 'उद्ग्रह' से पञ्चविज्ञानकायों को समझना चाहिये। 'विकल्प' है मनोविज्ञान। यह सब कर्म-क्लेशाभिसंस्कृत होने से 'संस्कृत' है। और 'असंस्कृत' हैं प्रशम एवं प्रशमार्थ।

'प्रशम' कहते हैं दुःखनिरोध को, और 'प्रशमार्थ' कहते हैं तथता को। प्रशमकारी होने से मार्ग को भी प्रशम में संगृहीत कर लेते हैं ॥ २३ ॥

तत्त्वपिण्डार्थ

[अब आचार्य (वसुबन्धु) तत्त्व के पिण्डार्थ का व्याख्यान कर रहे हैं—] तत्त्व संक्षेपतः द्विविध होता है; जैसे—१. आदर्शतत्त्व, २. दृश्यतत्त्व।

१. वहाँ मूलतत्त्व को ही 'आदर्शतत्त्व' कहते हैं; क्योंकि शेष तत्त्वों का उसी में अन्तर्भाव हो जाता है।

२, दृश्यतत्त्व (पूर्वोक्त लक्षणतत्त्वादि) नौ प्रकार का है। जैसे—

१. निरभिमान दृश्यतत्त्व (लक्षणतत्त्व);
२. अविपर्यासदृश्यतत्त्व (भावाभाव का असमारोपानपवाद विपर्यासतत्त्व);
३. श्रावकयाननिर्याणदृश्यतत्त्व (फलहेतुतत्त्व);
४. महायाननिर्याणदृश्यतत्त्व (औदारिकसूक्ष्मतत्त्व);
५. परवादिनिग्रहदृश्यतत्त्व (प्रसिद्धतत्त्व);
६. महायानाभिद्योतनदृश्यतत्त्व (विशुद्धिज्ञानगोचरतत्त्व);
७. सर्वाकारज्ञेयप्रवेशदृश्यतत्त्व (संग्रहतत्त्व);
८. अवितथतथताभिद्योतनदृश्यतत्त्व (प्रभेदतत्त्व);
९. आत्मग्राहवस्तुसर्वाभिसन्धिप्रवेशदृश्यतत्त्व (कौशलतत्त्व)।

यह पिण्डार्थ इसलिये कहा गया है कि जिज्ञासु को सुखेन (अनायास) ही सम्बद्ध ग्रन्थ अवबुद्ध हो जाय॥

॥ तत्त्वपरिच्छेद तृतीय समाप्त॥



४. प्रतिपक्षभावनावस्थाफलपरिच्छेदश्चतुर्थः

१. प्रतिपक्षभावना

प्रतिपक्षभावना बोधिपक्ष्यभावना, सेदानीं वक्तव्या । तत्र तावदादौ—

(क) चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि

दौष्ठुल्यात् तर्षहेतुत्वाद् वस्तुत्वादविमोहतः ।
चतुस्सत्यावताराय स्मृत्युपस्थानभावना ॥ १ ॥

१. कायस्मृत्युपस्थानेन दुःखसत्यमवतरति । दौष्ठुल्यम्—दुःस्थितता, संसारदुःखतेत्यर्थः । कायेन दौष्ठुल्यं प्रतीयते । २. तृष्णाहेतुर्वेदना । विदिति वेदना । वेदनास्मृत्युपस्थानेन समुदयसत्यमवतरति । ३. पुद्गलाभिनिवेशवस्तु चित्तम् । चित्तस्मृत्युपस्थानेन निरोधसत्यमवतरति । ४. धर्मस्मृत्युपस्थानेन मार्गसत्यमवतरति । सांक्लेशिका धर्माः क्लेशोपक्लेशाः ॥ १ ॥

चतुर्थ प्रतिपक्षभावना-अवस्था-फलपरिच्छेद

[तत्त्व-प्रतिपादन के अनन्तर, आचार्य अब इस चतुर्थ परिच्छेद में पूर्वोद्दिष्ट १. प्रतिपक्ष की भावना, २. अवस्था, एवं ३. फल का व्याख्यान करेंगे । उनमें-]

'प्रतिपक्ष की भावना' का अर्थ है—बोधिपक्षीय धर्मों की भावना (अभ्यास) करना । अब पहले उसी का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है ।

१. प्रतिपक्षभावना

उपर्युक्त (द्वितीय परिच्छेद में वर्णित) आवरणविपक्ष के प्रहाण के लिये ये बोधिपक्षीय धर्म अत्यन्त सहायक होते हैं, अतः इनको 'प्रतिपक्ष' कहते हैं । यहाँ 'भावना' का अर्थ है—अभ्यास । इस बोधिपक्षीयधर्मभावनाप्रसङ्ग में सर्वप्रथम चार स्मृत्युपस्थानों का क्रम आता है, अतः उन्हीं का पहले व्याख्यान किया जा रहा है—

(क) चार स्मृत्युपस्थान—इनमें १. पहले कायस्मृत्युपस्थान (कायदौष्ठुल्य) के सहारे से दुःखसत्य का लक्षणावबोध होता है । यहाँ 'दौष्ठुल्य' कहते हैं संस्कारदुःखता को । 'संस्कार' का अर्थ है भावों की उत्पत्ति । इस संस्कारदुःखता के समीक्षण से आर्यजन सभी सास्रव वस्तुओं को दुःखमय देखते हैं । २. वेदनास्मृत्युपस्थान से समुदयसत्य का लक्षणावबोध होता है । वेदना तृष्णा के कारण उत्पन्न होती है । तृष्णा ही समुदयसत्य है । ३. चित्त पुद्गलक्लेशाभिनिवेश वाला होता है । इसके स्मृत्युपस्थान से 'निरोधसत्य' का, एवं ४. धर्मस्मृत्युपस्थान से 'मार्गसत्य का लक्षणावबोध होता है । (यहाँ 'क्लेश' से सांक्लेशिक धर्म संगृहीत किये जाते हैं ।) अतः साधक को सत्यचतुष्टय के लक्षणावबोध के लिये सर्वप्रथम इस स्मृत्युपस्थानचतुष्टय की भावना करनी चाहिये ॥ १ ॥

(ख) चत्वारि सम्यक्प्रहाणानि

परिज्ञाते विपक्षे च प्रतिपक्षे च सर्वथा।
तदपायाय वीर्यं हि चतुर्धा सम्प्रवर्तते ॥ २ ॥

धर्मस्मृत्युपस्थानभावनया विपक्षे प्रतिपक्षे च परिज्ञाते विपक्षापगमाय अर्थात् उत्पन्नानां पापकानामकुशलानां धर्माणां प्रहाणाय अनुत्पन्नानां च अनुत्पादाय, प्रतिपक्षलाभाय अर्थात् उत्पन्नानां कुशलानां धर्माणां प्रबन्धानुवृत्तये अनुत्पन्नानां चोत्पादाय च धीमान् चतुर्धा वीर्यमारभेत् ॥ २ ॥

(ग) चत्वार ऋद्धिपादाः

कर्मण्यता स्थितेस्तत्र सर्वार्थानां समृद्धये।
पञ्चदोषप्रहाणाऽष्टसंस्कारासेवनान्वया ॥ ३ ॥

विपक्षापगमवीर्यभावनायां कर्मण्यता चित्तस्थितेः सर्वार्थसमृद्धियोग्यता। कर्मण्यता=चत्वार ऋद्धिपादाः। ते पुनः १. छन्दःसमाधिः, २. वीर्यसमाधिः, ३. चित्तसमाधिः, ४. मीमांसासमाधिश्च ॥ ३ ॥

कौसीद्यमववादस्य सम्मोषो लय उद्धवः।
असंस्कारोऽथ संस्कारः पञ्च दोषा इमे मताः ॥ ४ ॥

एते हि षड् दोषाः। तत्र लयौद्धत्यमेको दोषः क्रियत इति पञ्च भवन्ति। १. कौसीद्यम्=चेतसोऽनुत्साहः। तत् प्रयोगकाले दोषः। २. उद्युक्तस्य अववाद-

---

(ख) **चार सम्यक्प्रहाण**—बुद्धिमान् पुरुष को स्मृत्युपस्थान की भावना द्वारा विपक्ष और प्रतिपक्ष का सभी प्रकार से परिज्ञान कर लेने पर, विपक्ष (आवरण) के प्रहाण एवं प्रतिपक्ष (बोधिपक्षीय धर्मों) की प्राप्ति के लिये वीर्य की चार प्रकार से भावना करनी चाहिये ॥ २ ॥

(ग) **चार ऋद्धिपाद**—विपक्ष के अपगम (नाश) हेतु की गयी वीर्य की भावना में कर्मण्यता (चित्त का उत्साह) ही चित्तस्थिति (समाधि) की सर्वार्थ-समृद्धियोग्यता है। 'कर्मण्यता' कहते हैं चार ऋद्धिपादों को। चार ऋद्धिपाद क्रमशः ये हैं—१. छन्दःसमाधि, २. वीर्य०, ३. चित्त० और ४. मीमांसासमाधि। यह कर्मण्यता पाँच दोषों के प्रहाण के लिये आठ संस्कारों के भावना-प्राप्त्यर्थ की जाती है ॥ ३ ॥

वे पाँच दोष कौन से हैं ? पहला है कौसीद्य (चित्त का अनुत्साह), यह प्रयोग काल में दोष है; दूसरा है उद्योगी (साधक) का अववाद-सम्मोष (स्मृतिसम्मोष), तीसरा है समाहित का लयौद्धत्य दोष; चौथा है अनभिसंस्कार (समाधि की उपेक्षा)—

सम्मोषः स्मृतिसम्मोषो दोषः। ३. समाहितस्य लयौद्धत्यं दोषः। ४. अनभिसंस्कार उपेक्षा समाधेः प्रशान्त्यवस्थायां दोषः। ५. अभिसंस्कारश्चेतना विषयादेः प्रशान्तौ दोषः ॥ ४ ॥

आश्रयोऽथाश्रितस्तस्य निमित्तं फलमेव च।
आलम्बने असम्मोषो लयौद्धत्यानुबुद्धचना ॥ ५ ॥
तदपायाभिसंस्कारः शान्तौ प्रशठवाहिता।

आश्रयश्छन्दो व्यायामस्य, आश्रितो व्यायामः, छन्दसो निमित्तं श्रद्धा, व्यायामस्य फलं प्रस्रब्धिः। छन्दोऽभिलाषः, व्यायामो वीर्यम्, श्रद्धा अभिसम्प्रत्ययः, प्रश्रब्धिः=कर्मण्यता। कौसीद्यप्रहाणायेदं चतुष्टयं साधनम्।

स्मृतिरववादसम्मोषस्य, सम्प्रजन्यं लयौद्धत्यस्य, चेतनानभिसंस्कारस्य, उपेक्षा चाऽभिसंस्कारस्य प्रतिपक्षत्वात् साधनम् ॥ ५ ॥

(घ) पञ्चेन्द्रियाणि

रोपिते मोक्षभागीये छन्दयोगाधिपत्यतः ॥ ६ ॥
आलम्बने असम्मोषाविसारविचयस्य च ।

यह प्रशान्ति अवस्था में दोष है; और पाँचवाँ अभिसंस्कार (चेतना), यह विषयादि की प्रशान्ति में दोष है। यहाँ लय और औद्धत्य को पृथक् पृथक् दोष मानें तो छह दोष हो जाते हैं ॥ ४ ॥

इन दोषों के प्रहाण के लिये आठ प्रहाण-संस्कार कैसे व्यवस्थापित किये जाते हैं ? उत्तर देते हैं—

(क) इनमें चार प्रहाणसंस्कार (छन्द, व्यायाम, श्रद्धा और प्रश्रब्धि) कौसीद्य के प्रहाण के लिये किये जाते हैं। उनको यथाक्रम इस प्रकार जानना चाहिये—१. आश्रय (व्यायाम का छन्द), २. आश्रित (व्यायाम=वीर्य), ३. श्रद्धा (उस आश्रयभूत छन्द का निमित्त अभिसम्प्रत्यय) एवं ४. प्रश्रब्धि (उस आश्रित व्यायाम का फल—कर्मण्यता)।

(ख) अवशिष्ट चार प्रहाणसंस्कार (१. स्मृति, २. सम्प्रजन्य, ३. चेतना और ४. उपेक्षा) चार दोषों के क्रमशः प्रतिपक्ष हैं। उन्हें यों समझना चाहिये—१. स्मृति अववाद-सम्मोष का, २. सम्प्रजन्य लयौद्धत्य का, ३. चेतना अभिसंस्कार का, एवं ४. उपेक्षा अभिसंस्कार का प्रतिपक्ष है। उस लयौद्धत्य की उपशान्ति हो जाने पर चित्त की प्रशठता (कर्मण्यता) ही 'उपेक्षा' कहलाती है ॥ ५ ॥

ऋद्धिपादैः कर्मण्यचित्तस्य मोक्षभागीयकुशलमूलरोपणे सति श्रद्धादीनां पञ्चेन्द्रियाणामाधिपत्यं विवर्धयेत्। छन्दोऽत्र श्रद्धा। योगः प्रयोगः, वीर्यमित्यर्थः। स्मृतिरालम्बनासम्मोषः। समाधिरविसारश्चित्तैकाग्रतारूपः। प्रज्ञा प्रविचयः॥ ६॥

(ङ) पञ्च बलानि

विपक्षस्य हि संलेखात् पूर्वस्य फलमुत्तरम्॥ ७॥

अश्रद्धा-कौसीद्य-विस्मृति-विक्षेपाऽसम्प्रजन्यैर्विपक्षैर्यदा श्रद्धादीनीन्द्रियाणि न व्यवकीर्यन्ते तदा निर्जितविपक्षत्वाद् बलानि उच्यन्ते। मृदुमध्यमाधिमात्रभेदेन त्रिविधानि श्रद्धादीनि॥ ७॥

द्वौ द्वौ निर्वेधभागीयाविन्द्रियाणि बलानि च।

तत्र मृदूनि मध्यानि चेन्द्रियाणि। अधिमात्राणि बलानि।

(घ) पाँच इन्द्रियाँ—उक्त चार ऋद्धिपादों द्वारा कर्मण्य चित्त का मोक्षभागीय कुशलमूलों में रोपण हो जाने पर श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियों का आधिपत्य बढ़ाना चाहिये। वे पाँच आधिपत्य कौन से हैं? १. छन्दाधिपत्य, २. प्रयोगाधिपत्य, ३. आलम्बनासम्प्रमोषाधिपत्य, ४. अविसाराधिपत्य और ५. प्रविचयाधिपत्य। यहाँ 'छन्द' कहते हैं श्रद्धेन्द्रिय को। 'प्रयोग' (योग) कहते हैं वीर्येन्द्रिय को। 'आलम्बनासम्प्रमोष' कहते हैं स्मृति को। 'अविसार' कहते हैं चित्तैकाग्रतारूप समाधीन्द्रिय को। और 'प्रविचय' कहते हैं प्रज्ञेन्द्रिय को॥ ६॥

(ङ) पाँच बल—श्रद्धादि इन्द्रियाँ जब अश्रद्धादि विपक्षों से, बलवती होने के कारण, बिखर नहीं पाती अपितु उन्हें जीत लेती है, तब वे ही 'बल' कहलाती हैं। इन श्रद्धादियों का यह पूर्वोत्तर क्रमनिर्देश क्यों किया गया? क्योंकि पहली से दूसरी को सहारा मिलता है। श्रद्धालु ही वीर्य आरम्भ कर पाता है। आरब्धवीर्य की स्मृति उपस्थित रहती है। उपस्थित स्मृति वाले साधक का चित्त समाहित होने लगता है। समाहितचित्त ही पदार्थ की वस्तुस्थिति पहचान पाता है!

इन श्रद्धादि इन्द्रियों को मृदु, मध्य और अधिमात्र भेद से त्रिधा विभक्त कर दिया जाय तो ये मृदु, मध्य अवस्था में 'इन्द्रिय' कहलाती हैं, और ये ही अधिमात्र अवस्था में 'बल' नाम से जानी जाती हैं॥ ७॥

अब प्रश्न उठता है कि जैसे मोक्षभागीय इन्द्रियाँ प्रतिपक्ष की भावना से या श्रद्धादि से प्रभावित होती हैं उसी तरह क्या निर्वेधभागीय इन्द्रियाँ भी प्रभावित होती हैं? आचार्य उत्तर देते हैं—ऊष्मगत और मूर्धा इन्द्रिय (मृदु होने के कारण)

(च) सप्त बोध्यङ्गानि

आश्रयाङ्गं स्वभावाङ्गं निर्याणाङ्गं तृतीयकम् ॥ ८ ॥
चतुर्थमनुशंसाङ्गं निःक्लेशाङ्गं त्रिधा मतम् ।
निदानेनाश्रयेणेह स्वभावेन च देशितम् ॥ ९ ॥

दर्शनमार्गे बोधौ सप्ताङ्गानि । आश्रयाङ्गं स्मृतिः । स्वभावाङ्गं धर्मप्रविचयः । निर्याणाङ्गं वीर्यम् । अनुशंसाङ्गं प्रीतिः । असंक्लेशाङ्गं त्रिधा प्रश्रब्धिसमाध्युपेक्षाः । निदानं कारणम् । दौष्ठुल्यं संक्लेशस्य हेतुः, तस्य प्रतिपक्षः प्रश्रब्धिरसंक्लेशस्य निदानम् । प्रश्रब्धिः=कायचित्तकर्मण्यता । आश्रयः समाधिः । तत्र चित्तं समाधीयते, समाहिते चित्ते यथाभूतं प्रजानाति, यथाभूतदर्शनात् क्लेशाः प्रहीयन्ते । स्वभावः उपेक्षा ॥ ८-९ ॥

(छ) अष्टौ मार्गाङ्गानि

दर्शनमार्गानन्तरं भावनामार्गः, तत्राऽङ्गानि । मिथ्यादृष्टिविपक्षाद् यावन्मिथ्यासमाधिविपक्षं सम्यग्दृष्टयादीनामष्टानां मार्गाङ्गाणां व्यवस्थानम् ।

परिच्छेदोऽथ सम्प्राप्तिः परसम्भावना त्रिधा ।
विपक्षप्रतिपक्षश्च मार्गस्याङ्गं तदष्टधा ॥ १० ॥

'इन्द्रिय' कहलाती हैं तथा क्षान्ति और लौकिक अग्रधर्म 'बल' कहलाते हैं ॥ ८ ॥

(च) सात बोध्यङ्ग—[बल के बाद अब बोध्यङ्गों के व्याख्यान का अवसर उपस्थित हुआ है । उनका व्यवसाय कैसे होगा ? आचार्य कहते हैं—] दर्शनमार्ग (बोधि) में अङ्गभूत धर्मों को 'बोध्यङ्ग' कहते हैं । अदृष्टपूर्व तत्त्व का प्रथमतः आलोचन होने से 'दर्शन' कहा जाता है और आर्यभूमि का प्रापक होने से उसे 'मार्ग' कहते हैं । १. वहाँ बोधि का आश्रयाङ्ग है—स्मृति; २. स्वभावाङ्ग है—धर्मविचय; ३. निर्याण का अङ्ग है वीर्य; ४. अनुशंसाङ्ग है प्रीति; त्रिविध असंक्लेशाङ्ग हैं क्रमशः ५. प्रश्रब्धि, ६. समाधि और ७. उपेक्षा ।

यहाँ असंक्लेशाङ्ग को त्रिविध क्यों कहा ? उत्तर है—१. निदान, २. आश्रय और ३. स्वभाव के कारण । असंक्लेश का निदान है प्रश्रब्धि, दौष्ठुल्यहेतुक और उसका प्रतिपक्ष होने के कारण । 'आश्रय' का अर्थ है समाधि । और 'स्वभाव' कहते हैं उपेक्षा को ॥ ९ ॥

(छ) आठ मार्गाङ्ग—[दर्शनमार्ग के बाद भावनामार्ग का व्याख्यान किया जा रहा है । उसके आठ अङ्ग होते हैं । उनका व्यवस्थान कैसे होगा ? उत्तर है—] इस भावनामार्ग को त्रिधा विभक्त किया जा सकता है; जैसे—१. परिच्छेदाङ्ग,

दृष्टौ शीलेऽथ संलेखे परविज्ञप्तिरिष्यते ।
क्लेशोपक्लेशवैभुत्वविपक्षप्रतिपक्षता ॥ ११ ॥

तत्र परिच्छेदाङ्गं सम्यग्दृष्टिः । शुद्धलौकिकी सविकल्पा लोकोत्तरा तु निर्विकल्पा । आद्या लोकोत्तरपृष्ठलब्धा । लोकोत्तरस्य=दर्शनमार्गस्य, पृष्ठेन=बलेन, लभ्या=उत्पन्ना । परसम्प्रापणाङ्गं सम्यक्सङ्कल्पः सम्यग्वाक् च परविज्ञप्तिसमाधयः । परविज्ञप्तिकाङ्गं परसम्भावनाङ्गम्, तत् त्रिधा सम्यग्वाक्कर्मान्ताजीवाः ॥ १० ॥

विपक्षप्रतिपक्षाङ्गं च सम्यग्व्यायाम-स्मृति-समाधयः । भावनाहेयक्लेशप्रतिपक्षो व्यायामो मार्गभावनात् । सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं लयौद्धत्यविगतं समाध्यवस्थानं वीर्यं सम्यग्व्यायामः । लयौद्धत्यलक्षणस्योपक्लेशस्य प्रतिपक्षः सम्यक्स्मृतिः । विभुत्वस्य यद् विपक्षः समापत्त्यावरणात्मकक्लिष्टमज्ञानं तस्य प्रतिपक्षः सम्यक्समाधिः ॥ ११ ॥

(ज) प्रतिपक्षभावनासमासः

अनुकूला विपर्यस्ता सानुबन्धा विपर्यया ।
अविपर्यस्ता विपर्यासाऽननुबन्धा च भावना ॥ १२ ॥
आलम्बनमनस्कारप्राप्तितस्तद्विशिष्टता ।

---

२. परसम्प्रापणाङ्ग, और ३. परसम्भावनाङ्ग रूप से । १. यहाँ परिच्छेदाङ्ग है लौकिकी या लोकोत्तरपृष्ठलब्ध सम्यग्दृष्टि, जिससे साधक स्वाधिगम का परिच्छेद करता है । २. परसम्प्रापणाङ्ग है—सम्यक्सङ्कल्प और सम्यग्वाक्; क्योंकि समुत्थानवाणी से वह पाया जा सकता है । ३. परसम्भावनाङ्ग भी सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त एवं सम्यगाजीव के रूप में त्रिधा विभक्त किया जा सकता है ॥ १० ॥

उनसे यथाक्रमदृष्टि, शील और संल्लेख में परसम्भावना (परविज्ञप्ति) होती है । यह विपक्ष त्रिविध होता है—१. क्लेश जो कि भावनाहेय है; २. उपक्लेश होता है लयौद्धत्य; एवं ३. विभुत्व जो कि वैशेषिकगुणाभिनिर्हार का निबन्ध है । वहाँ प्रथम (क्लेश) का प्रतिपक्ष है सम्यग्व्यायाम, मार्गभावित होने से । द्वितीय (उपक्लेश) का सम्यक्स्मृति; क्योंकि शमथादि निमित्तों में भलीभाँति उपस्थित स्मृति में लयौद्धत्य का अभाव होता है । तृतीय (विभुत्व) का प्रतिपक्ष ध्यान के सन्निश्रय से अभिज्ञादिगुणों का अभिनिर्हार होने के कारण सम्यक्समाधि है ॥ ११ ॥

(ज) प्रतिपक्षभावनासंक्षेप—यह प्रतिपक्षभावना संक्षेप में त्रिविध जाननी चाहिये—१. विपर्यस्त होते हुए भी अविपर्यासानुकूल, २. अविपर्यस्त होते हुए भी विपर्यासानुबन्ध, एवं ३. अविपर्यस्त और विपर्यासनिरनुबन्ध । इनमें प्रथम (विपर्यस्त होते हुए भी अविपर्यासानुकूल) पृथग्जनावस्था में होती है । द्वितीय (अविपर्यस्त होते हुए विपर्यासानुबन्ध) शैक्ष्य साधनावस्था में होती है । एवं तृतीय (अविपर्यस्ता और विपर्यासनिरनुबन्धा) अशैक्ष्य साधकावस्था में होती है ॥

प्रतिपक्षभावना समासेन त्रिविधा। पृथग्जनानामअनुकूला इति विपर्यसानुकूला इत्यर्थः। शैक्षाणामविपर्यस्ता किन्तु विपर्यासाऽनुबन्धा। अशैक्षाणामविपर्यस्ता विपर्यासनिरनुबन्धा च। बोधिसत्त्वानां तु विशिष्टा प्रतिपक्षभावना। श्रावकप्रत्येकबुद्धानां स्वसान्तानिकाः कायादय आलम्बनम्।

बोधिसत्त्वानां पुनः स्वपरसान्तानिकाः कायवेदनाचित्तधर्मा आलम्बनम्। श्रावक-प्रत्येकबुद्धानामनित्यदुःखशून्यानात्माकारैर्मनस्कारस्तेभ्य उद्वेगार्थम्, बोधिसत्त्वानां पुनरनुपलम्भयोगेन मनस्कारः। श्रावकप्रत्येकबुद्धानां भावना कायादीनां विसंयोगाय निरुपधिशेषनिर्वाणाय, बोधिसत्त्वानां पुनर्न विसंयोगाय नाऽविसंयोगाय। तेषां कारुणिकत्वात् संसारोपपत्तिः, प्रज्ञाबलेन तत्रासंक्लेशः। तद्दिदमप्रतिष्ठितं निर्वाणम्॥

२. अवस्था

हेत्ववस्थावताराख्या प्रयोगफलसंज्ञिता ॥ १३ ॥
कार्याकार्यविशिष्टा च उत्तरानुत्तरा च सा।
अधिमुक्तौ प्रवेशे च निर्याणे व्याकृतावपि ॥ १४ ॥
कथिकत्वाऽभिषेके च सम्प्राप्तावनुशंसने ।
कृत्यानुष्ठान उद्दिष्टा,

१. हेत्ववस्था गोत्रस्थस्य पुद्गलस्य। गोत्रं हेतुर्बीजमित्यर्थः। केचिद् गोत्रं कुशलमूलस्वभावं वर्णयन्ति। २. अवतारावस्था उत्पादितबोधिचित्तस्य। सा च श्रावक-प्रत्येकबुद्ध-तथागतगोत्राणां यथाक्रमं चित्तोत्पादात् त्रिविधा। ३. प्रयोगावस्था चित्तोत्पादादूर्ध्वमप्राप्ते फले। ४. अधिमुक्त्यवस्था बोधिसत्त्वानामधिमुक्तिचर्याभूमौ। आसु चतसृषु अवस्थासु धर्मधातोर्निरवशेषमलं न प्रहीयत इत्येता अशुद्धा उच्यन्ते। १३-१४॥

बोधिसत्त्वों के तो स्वपरसान्तानिक काय, चित्त, वेदना और धर्म ही आलम्बन हैं। और श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध स्वसान्तानिक कायादि का अनित्यादि आकारों से मनस्कार करते हैं। एवं बोधिसत्त्व अनुपलम्भयोग से। श्रावक या प्रत्येकबुद्ध कायादि के विसंयोग के लिये स्मृत्युपस्थानादि की भावना करते हैं और बोधिसत्त्व न उनके विसंयोग के लिये, न अविसंयोग के लिये, अपितु प्रतिष्ठित निर्वाण के लिये भावना करते हैं ॥१३॥

प्रतिपक्षभावना का व्याख्यान सम्पन्न॥

२. अवस्था—[अब आचार्य प्रसङ्गप्राप्त अवस्था का वर्णन कर रहे हैं—]

अवस्थाएँ अठारह (१८) होती हैं। जैसे—१. हेत्ववस्था (गोत्रस्थ पुद्गल की); २. अवतारावस्था (उत्पादित बोधिचित्त की); ३. प्रयोगावस्था

धर्मधातौ त्रिधा पुनः ॥ १५ ॥

अशुद्धाशुद्धशुद्धा च विशुद्धा च यथार्थतः।
पुद्गलानां व्यवस्थानं यथायोगमतो मतम् ॥ १६ ॥

शैक्षाणां पुनरष्टाववस्थाः—१. फलावस्था प्राप्ते प्रथमफले। २. सकरणीयावस्था यत्र करणीयविशेषोऽवशिष्यते। ३. उत्तरावस्था भूमिप्रविष्टस्य बोधिसत्त्वस्य। ४. प्रवेशावस्था प्रथमभूमौ। ५. निर्याणावस्था तदुत्तरासु षट्सु भूमिषु। ६. सम्मुखी व्याकरणावस्था बुद्धसाम्मुख्यादष्टम्यां भूमौ। ७. कथिकावस्थाऽनुत्तरमहाधर्मकथिकभावान्नवम्यां भूमौ। ८. अभिषेकावस्था दशम्यां भूमौ धर्ममेघाभिषेकतः। एता अष्टौ अवस्था अशुद्धशुद्धा उच्यन्ते; धर्मधातोः प्रहीणाऽप्रहीणक्लेशतामुपादाय तास्वशुद्धिबीजभावात्, क्रमशः शुद्धेरुत्कर्षाच्च।

अशैक्षाणां पुनः पञ्चावस्थाः। अशैक्षो हि त्रैधातुकवीतरागः। १. अकरणीयावस्था यत्र हि किञ्चित् करणीयमवशिष्यते। २. अनुत्तरावस्था बुद्धानाम्। ३. प्राप्त्यवस्था बुद्धानां धर्मकायः। ४. अनुशंसावस्था साम्भोगिकः कायः। ५. कृत्यानुष्ठानावस्था नैर्माणिकः कायः। एताः पञ्चावस्था विशुद्धा उच्यन्ते; निरवशेषक्लेशप्रहाणात्।

ता एता अष्टादश प्रतिपक्षभावनायामवस्थाः धर्मधातौ उपर्युक्तप्रकारेण

(चित्तोत्पाद के बाद, फल के प्राप्त न होने तक); ४. फलावस्था (फल प्राप्त होने के बाद), ५. सकरणीयावस्था (शैक्ष्य की); ६. अकरणीयावस्था (अशैक्ष्य की); ७. विशेषावस्था (अभिज्ञादि गुणविशेषों से समन्वागत की); ८. उत्तरावस्था (श्रावकादि से ऊपर भूमिप्रविष्ट बोधिसत्त्व की); ९. अनुत्तरावस्था (बुद्ध की, क्योंकि उसके बाद कोई अवस्था नहीं है); १०. अधिमुक्त्यवस्था (बोधिसत्त्व की, सभी अधिमुक्तिचर्या भूमियों में); ११. प्रवेशावस्था (प्रथमा भूमि में); १२. निर्याणावस्था (तदुत्तर छह भूमियों में); १३. व्याकरणावस्था (अष्टमी भूमि में); १४. कथिकत्वावस्था (नवम भूमि में); १५. अभिषेकावस्था (दशम भूमि में); १६. प्राप्त्यवस्था (बुद्धों का धर्मकाय); १७. अनुशंसावस्था (साम्भोगिक काय); एवं १८. कृत्यानुष्ठानावस्था (निर्माणकाय) ॥ १४-१५ ॥

ये सभी अवस्थाएँ, प्रतिपक्षभावना करते समय, धर्मधातु में तीन प्रकार से संगृहीत की गयी हैं; जैसे—१. अशुद्धा, २. अशुद्धशुद्धा एवं ३. विशुद्धा। इनमें पहली अशुद्धावस्था हेत्ववस्था से प्रयोगावस्था तक, दूसरी अशुद्धाशुद्धावस्था शैक्ष्यों की होती है। और (तीसरी) विशुद्धावस्था अशैक्ष्यों की कही गयी है ॥ १६ ॥

त्रिधा संगृहीताः। अत्र पुद्गलस्य व्यवस्थानम्-'अयं गोत्रस्थोऽयमवतीर्णः' इत्यादि यथायोगं द्रष्टव्यम् ॥ १५-१६ ॥

३. फलप्राप्तिः

भाजनत्वं विपाकाख्यं बलं तस्याधिपत्यतः।
रुचिर्वृद्धिर्विशुद्धिश्च फलमेतत् यथाक्रमम् ॥ १७ ॥

समासेन पञ्चविधं फलम्—भाजनत्वम्, बलम्, रुचिः, वृद्धिः, विशुद्धिश्चेति। तत्र—

१. भाजनत्वं कुशलानुकूलविपाको बोधिसत्त्वधर्माणाम्। इदं विपाकफलम्।

२. बलं भाजनत्वाधिपत्यात् कुशलमूलस्य पुष्टिः। इदमधिपतिफलम्।

३. रुचिः पूर्वाभ्यासेन कुशलरुचिः। इयं निष्यन्दफलम्।

४. वृद्धिः अभ्यासात् कुशलमूलस्य पुष्टिः पुरुषकारफलम्।

५. विशुद्धिश्च सर्वावरणप्रहाणं विसंयोगफलम् ॥ १७ ॥

उत्तरोत्तरमाद्यञ्च तदभ्यासात् समाप्तितः।
आनुकूल्याद् विपक्षाच्च विसंयोगाद् विशेषतः ॥ १८ ॥
उत्तरानुत्तरत्वाच्च फलमन्यत् समासतः।

॥ इति प्रतिपक्षभावनादिपरिच्छेदश्चतुर्थः ॥

व्यासतस्तु फलमनेकविधम्। **उत्तरोत्तरफलं** गोत्रात् चित्तोत्पादः, चित्तोत्पादात् प्रयोग इत्यादि अवस्थापरम्परया वेदितव्यम्। **आदिफलं** दर्शनमार्गप्राप्तिः। **अभ्यासफलं** तत्परशैक्षावस्था भावनामार्गः। **समाप्तिफलम्** अशैक्षिका धर्मा बुद्धभूमिरूपाः ॥ १८ ॥

●

इस अवस्थाप्रभेद के सहारे से पुद्गलों का व्यवस्थान भी यथायोग जान लेना चाहिये, जैसे—'यह गोत्रस्थ है, यह अवतीर्ण है'—इत्यादि। १७ ॥

३. फलप्राप्ति—संक्षेप में फल पाँच प्रकार का होता है; जैसे—१. भाजनत्व, २. बल, ३. रुचि, ४. वृद्धि और ५. विशुद्धि। वहाँ **भाजनत्व** है कुशलानुकूल बोधिसत्त्वधर्मों का विपाक। यह विपाकफल है। दूसरा **बल** भाजनत्व आधिपत्य से कुशलमूल की अधिमात्रता (पुष्टि) अधिपतिफल है। ३. **रुचि** कहते हैं पूर्वाभ्यास से कुशल रुचि को, यह निष्यन्दफल है। ४. **वृद्धि** (अभ्यास से कुशलमूल की पुष्टि) पुरुषकारफल है। ५. और **विशुद्धि** सर्वावरणप्रहाण का फल है। यह विसंयोगफल है। यह हुआ फल का संक्षेप। १७ ॥

यदि इस का विस्तार किया जाय तो यही **१. उत्तरोत्तरफल**, २. आदिफल, ३. अभ्यासफल, ४. समाप्तिफल, ५. आनुकूल्यफल, ६. विपक्षाफल, ७. विसंयोगफल, ८. विशेषफल, ९. उत्तरफल, १०. अनुत्तरफल हो जाता है। विस्तार तो वस्तुतः अपरिमाण है ॥ १८ ॥

४. **प्रतिपक्षभावनापिण्डार्थ**—प्रतिपक्षभावना का पिण्डार्थ यह है—

१. व्युत्पत्तिभावना, २. निर्लेखभावना, ३. परिकर्मभावना, ४. उत्तरोत्तर-समारम्भभावना, ५. श्लिष्टभावना, ६. प्रविष्टभावना, ७. उत्कृष्टभावना, ८. आदि-भावना, ९. मध्यभावना, १०. पर्यवसानभावना, ११. सोत्तरा भावना एवं १२. निरुत्तरा भावना, जो आलम्बन में मनस्कारप्राप्तिविशिष्ट होती है।

५. **अवस्थापिण्डार्थ**—अवस्था का पिण्डार्थ यह है—१. गोत्रस्थ की भव्यता-वस्था; २. प्रयोगपर्यन्त आरम्भावस्था; ३. अशुद्धावस्था, ४. अशुद्धशुद्धावस्था, ५. विशुद्धावस्था, ६. सालङ्कारावस्था, ७. दशभूमिव्यापन तक व्याप्त्यवस्था एवं ८. अनुत्तरावस्था।

६. **फलपिण्डार्थ**—फलों का पिण्डार्थ छह प्रकार से संगृहीत किया जा सकता है; जैसे—१. संग्रह से, २. तद्विशेष से, ३. पूर्वाभ्यास से, ४. उत्तरोत्तरनिर्हार से, ५. उद्देश से, और ६. निर्देश से।

वहाँ 'संग्रह' से पाँच फलों का ग्रहण होता है और 'तद्विशेष' से अवशिष्ट का। 'पूर्वाभ्यास' से विपाकफल, 'उत्तरोत्तरनिर्हार' से अवशिष्ट अन्य चार फल, 'उद्देश्य' से उत्तरोत्तरफलादि चार फल, एवं 'निर्देश' से आनुकूल्यफलादि छह फलों का ग्रहण होता है: क्योंकि उन्हीं का यहाँ निर्देश किया गया है॥

मध्यान्तविभागशास्त्र में

प्रतिपक्षभावना, अवस्था एवं फलपरिच्छेदचतुर्थ समाप्त॥

यानानुत्तर्यपरिच्छेदः पञ्चमः

१. त्रिविधमानुत्तर्यम्

आनुत्तर्यं प्रपत्तौ हि पुनरालम्बने मतम् ।
समुदागम उद्दिष्टम्;

१. प्रतिपत्त्यानुत्तर्यम्

प्रतिपत्तिस्तु षड्विधा ।। १ ।।
परमाऽथ मनस्कारे अनुधर्मान्तवर्जने ।
विशिष्टा चाविशिष्टा च,

श्रावक-प्रत्येकबुद्धयानाभ्यां महायानं विशिष्टम् । नैव महायानादन्यत् विशिष्टतरमस्ति । अनुत्तरस्य भाव आनुत्तर्यम् । महायानस्य त्रिविधं यानानुत्तर्यं प्रतिपत्त्यालम्बनसमुदागमभेदात् । तत्र १. प्रतिपत्तेरानुत्तर्यं दशपारमितानिष्पादकत्वात् । २. आलम्बनस्य पुनः पारमितादिधर्माणां धर्मधातोश्च प्राप्तेः । ३. समुदागमस्य च गोत्राधिमुक्तिचित्तोत्पादादिफलत्वात् । समुदागच्छन्ति प्राप्नुवन्ति गोत्रादिभ्यस्तदिति समुदागमः । यान्ति प्राप्नुवन्ति अनेन अप्रतिष्ठितं निर्वाणमिति यानम् । महत्त्वयोगान् महत् । महायानमेवाऽनुत्तरम् ।। १ ।।

प्रतिपत्तेरानुत्तर्यं दशपारमिताप्रतिपत्तितो वेदितव्यम् । पारमिता-

---

पञ्चम यानानुत्तर्यपरिच्छेद

महायान का आनुत्तर्य (वैशिष्ट्य)—[ग्रन्थ के उद्देश-क्रम के अनुसार अब यानानुत्तर्य का वर्णन किया जा रहा है ।] यान तीन होते हैं—१. श्रावकयान, २. प्रत्येकबुद्धयान एवं ३. महायान । इनमें उक्त दो यानों से महायान विशिष्ट है; क्योंकि उसमें प्रतिपत्ति, आलम्बन और समुदागम ही विशिष्टता है । इसी बात का आचार्य विस्तार कर रहे हैं—

महायान में त्रिविध आनुत्तर्य (वैशिष्ट्य) है इसी लिये यह 'महायान' कहलाता है । वह त्रिविध आनुत्तर्य है—१. प्रतिपत्ति आनुत्तर्य (दश पारमिताओं का निष्पादक होने से), २. आलम्बन-आनुत्तर्य (पारमितादि धर्म और धर्मधातु के आलम्बन से) एवं ३. समुदागम (गोत्राधिमुक्तिचित्तोत्पाद आदि का फल होने से) । जिससे अप्रतिष्ठित निर्वाण की प्राप्ति हो उसे 'यान' कहते हैं । उस यान के साथ उक्त तीन विशेषताओं के कारण 'महत्' शब्द लगा दिया गया । यह महायान ही अनुत्तर=अद्वितीय है, उससे बढ़कर कोई नहीं है ।। १ ।।

प्रतिपत्तिः=पारमिताऽनुष्ठानम् । तन्महायान एव, नाऽन्यत्र; तस्मान्महायानमेवानुत्तरम् । तत्र प्रतिपत्तिः षड्विधा—१. परमा ६. यावत् अविशिष्टेति ।

२. (क) परमा प्रतिपत्तिः

परमा द्वादशात्मिका ॥ २ ॥

औदार्यमायतत्वञ्च अधिकारोऽक्षयात्मता ।
नैरन्तर्यमकृच्छ्रत्वं वित्तत्वञ्च परिग्रहः ॥ ३ ॥
आरम्भप्राप्तिनिष्यन्दनिष्पत्तिः परमा मता ।
ततश्च परमार्थेन दश पारमिता मताः ॥ ४ ॥

तत्र परमा प्रतिपत्तिर्द्वादशात्मिका ।

१. औदार्यपरमता यत् प्राप्ते न सज्जते अप्राप्तं न प्रार्थयति । यथोक्तम्—

'पुण्यञ्च यत् पुण्यफलञ्च साधो ! सर्वं परार्थं तव नात्महेतोः ।' इति ।

२. आयतत्वपरमता दानपारमितादिषु आयताभ्यासः ।

३. अधिकारपरमता सर्वसत्त्वहितसुखार्थक्रियोद्देशात् ।

४. अक्षयपरमता यत् महाबोधिपरिणामनया आश्रयपरावृत्तिलक्षणस्य धर्मकायस्य निष्पादनात्, तस्य च अक्षयत्वात् निरुपधिशेषेऽपि निर्वाणे न पर्यादीयन्ते ।

[उन त्रिविध आनुत्तर्यों में से प्रथम प्रतिपत्ति आनुत्तर्य का व्याख्यान यों है—]

प्रतिपत्ति (अनुष्ठान) का वैशिष्टय दश पारमिताओं की प्रतिपत्ति से जानना चाहिये। वैसे वह प्रतिपत्ति छह प्रकार की ही है। जैसे—१. परमा०, २. मनस्कार०, ३. अनुधर्म०, ४. अन्तद्वयवर्जित०, ५. विशिष्टा और ६. अविशिष्टा प्रतिपत्ति ।

१. परमा प्रतिपत्ति—यह बारह प्रकार की है; जैसे—१. औदार्यपरमता, २. आयतत्व०, ३. अधिकार०, ४. अक्षय०, ५. नैरन्तर्य०, ६. अकृच्छ्रत्व०, ७. वित्तत्व०, ८. परिग्रह०, ९. आरम्भ०, १०. प्रतिलम्भ०, ११. निष्यन्द०, एवं १२. निष्पत्तिपरमता ।

यहाँ १. **औदार्यपरमता** से 'प्राप्त होने पर न हर्ष और अप्राप्त होने पर न याच्ञा' अभिप्रेत है। २. **आयतत्वपरमता** कहते हैं दानपारमितादि का सुदीर्घकाल तक अभ्यास। ३. **अधिकारपरमता** है सभी प्राणियों के हितार्थ या सुखार्थ क्रियाओं का उद्देश। ४. **अक्षयपरमता** महाबोधिपरिणामना से आश्रयपरावृत्तिरूप अक्षयधर्मकाय के निष्पादन से प्राप्त होती है। ५. **नैरन्तर्यपरमता** की

५. नैरन्तर्यपरमता यदात्मपरसमताधिमोक्षात् प्रहीणस्वपरविकल्पस्य सर्वसत्त्वेषु दानादिपारमितापरिपूरणात् ।

६. अकृच्छ्रत्वपरमता यद् बोधिसत्त्वानामनुमोदनामात्रेण दानादिपारमिता परिपूर्यन्ते ।

७. वित्तत्वपरमता बोधिसत्त्वानां धर्मधातुप्रतिवेधभावनया गगनगञ्ज-नामकसमाधिप्रतिलम्भात् सत्त्वानां सर्वाभिप्रायपरिपूरणात् ।

८. परिग्रहपरमता निर्विकल्पज्ञानपरिग्रहात् ।

९. आरम्भपरमता चोत्पादितबोधिचित्तस्य बोधिसत्त्वस्याऽऽरम्भावस्था अधिमुक्तिचर्याभूमौ अधिमात्रायां क्षान्तौ ।

१०. प्रतिलम्भपरमता प्रथमायां भूमौ धर्मधातोः सर्वत्रगत्वावबोधात् ।

११. निष्यन्दपरमता अन्यासु अष्टासु भूमिषु उत्तरोत्तरविशिष्टप्रति-लम्भात् ।

१२. निष्पत्तिपरमता दशम्यां भूमौ ताथागत्यलाभेन यौवराज्या-भिषेकात् ।। २-४ ।।

दानं शीलं क्षमा वीर्यं ध्यानं प्रज्ञा उपायता ।
प्रणिधानं बलं ज्ञानमेताः पारमिता दश ।। ५ ।।

स्वकीय एवं परकीय समता के अधिमोक्ष से प्रहीणस्वर विकल्प वाले प्राणियों में दानादि पारमिताओं की पूर्ति से होती है । ६. **अकृच्छ्रत्वपरमता** वह कहलाती है जहाँ बोधिसत्त्वों की अनुमोदनामात्र से दानादि पारमिताओं की पूर्ति अनायास होती चली जाय । ७. **वित्तत्वपरमता** बोधिसत्त्वों की धर्मधातु प्रतिवेधभावना के कारण 'गगनगञ्ज' नामक समाधि की प्राप्ति होने से, एवं सत्त्वों की सर्वविध कामनाओं के परिपूर्ण होने से कहलाती है । ८. **परिग्रहपरमता** निर्विकल्प ज्ञान के परिग्रह से प्राप्त होती है । ९. और **आरम्भपरमता** ऐसे बोधिसत्त्व, जिसने अपने में बोधिचित्त उत्पादित कर लिया है, की अधिमुक्तिचर्या भूमि एवं क्षान्ति-पारमिता के अत्यधिक बृद्धिङ्गत होने पर उसकी आरम्भिक अवस्था को कहते हैं । १०. **प्रतिलम्भपरमता** प्रथम भूमि में धातु का सर्वत्रगत्व के बोध होने से एवं ११. **निष्यन्दपरमता** (प्रथम से) आगे की अवशिष्ट आठ भूमियों में उत्तर उत्तर विशिष्ट प्रतिलम्भ से प्राप्त होती है । तथा १२. **निष्पत्तिपरमता** दशम भूमि में तथागतत्वलाभ से प्राप्त होती है ।

यह बारह प्रकार की परमता इन दश पारमिताओं में रहती है, अतः इन परमताओं को ही दश पारमिता कहते हैं ।। २-४ ।।

अनुग्रहोऽविघातश्च कर्म तस्य च मर्षणम् ।
गुणवृद्धिश्च सामर्थ्यमवतारविमोचने ॥ ६ ॥
अक्षयत्वं सदा वृत्तिर्नियतं भोगपाचने ।

अविघातोऽनुपघातः । ध्यानेन चित्तं ऋद्धयादिभिरावर्ज्य अधिमुक्तिचर्यायामवतारयति । ज्ञानेन धर्मसम्भोगमनुभवति, सत्त्वांश्च परिपाचयति ॥५-६॥

२. (ख) मनस्कारप्रतिपत्तिः

यथाप्रज्ञप्तितो धर्मसहायानमनस्क्रिया ॥ ७ ॥
बोधिसत्त्वस्य सततं प्रज्ञया त्रिप्रकारया ।
धातुपुष्टयै प्रवेशाय चार्थसिद्धयै भवत्यसौ ॥ ८ ॥

महायाने यथाप्रज्ञप्तानां धर्माणां बोधिसत्त्वैर्मनसिकरणात् मनस्कारप्रतिपत्तिः । अभीक्ष्णं श्रुतचिन्ताभावनामय्या प्रज्ञया मनसिकरणम् । धातुर्गोत्रं बीजः । तत्पुष्टया विशदमहाप्रज्ञो भवति श्रुतेन । श्रुतस्यार्थं चिन्तया प्रविशति । भावनयाऽर्थसिद्धिं प्राप्नोति ॥ ७-८ ॥

वे दश पारमिताएँ कौन सी हैं ? वे हैं—१. दानपारमिता, २. शील०, क्षान्ति०, ४. वीर्य०, ५. ध्यान०, ६. प्रज्ञा०, ७. उपायकौशल०, ८. प्रणिधान०, ९. बल०, एवं १०. ज्ञानपारमिता ॥

इन पारमिताओं का कर्म क्रमशः यह है—१. बोधिसत्त्व दान से सत्त्वों पर अनुग्रह करता है । २, शील के कारण दूसरों का अपकार नहीं करता । ३. क्षान्ति से दूसरों द्वारा किये गये अपकार को सहन करता है । ४. वीर्य से स्वगुणों में वृद्धि करता है । ५. ध्यान से ऋद्धि आदि का आवर्जन कर उन्हें आत्मसात् करता है । ६. प्रज्ञा से सम्यगुपदेश कर स्वयं तथा दूसरों को भवबन्धन से मुक्त करता है । ७. उपायकौशल के सहारे महाबोधि की परिणामना से स्वकीय दानादि पारमिताओं को अक्षय कर लेता है । ८. प्रणिधानपारमिता द्वारा अनुकूल उपपत्ति के सहारे सभी जन्मों में बुद्धोत्पाद में उत्कण्ठा रखने से उसकी सदैव दानादि में प्रवृत्ति रहती है । ९. बलपारमिता द्वारा प्रतिसंख्यानभावना-बलों से निश्चित ही साधक दानादि में प्रवृत्त रहता है । एवं १०. ज्ञानपारमिता से यथागृहीत धर्मसम्मोह के क्षीण हो जाने के कारण, वह दानादि आधिपतेय धर्मसम्भोग का अनुभव करता है, और दूसरों को भी उनकी तरफ प्रवृत्त करता है ॥

परमा प्रतिपत्ति का व्याख्यान सम्पन्न ॥

२. मनस्कारप्रतिपत्ति—दानादि के विषय में यथाप्रज्ञप्त सूत्रादि धर्मों के सहारे से महायान में श्रुत, चिन्ता एवं भावनामयी प्रज्ञा से निरन्तर मनस्कार (चित्त लगाना) ही मनस्कारप्रतिपत्ति है ॥ ७ ॥

संयुक्ता धर्मचरितैः सा ज्ञेया दशभिः पुनः ।
लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ॥ ९ ॥
प्रकाशनाऽथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावना च तत् ।
अमेयपुण्यस्कन्धं हि चरितं तद् दशात्मकम् ॥ १० ॥
विशेषादक्षयत्वाच्च परानुग्रहतोऽशमात् ।

लेखनादिकं महायानस्येति । श्रावकादिसम्भारफलं हि क्षयत्वमाख्यातं निरुपधिशेषनिर्वृतानां सर्वात्मना समुच्छेदात् । महायाने सम्भारफलमक्षयत्वं बोधिसत्त्वस्य परानुग्रहार्थमशमात् अनुच्छेदादिति ॥ ९-१० ॥

२. (ग) अनुधर्मप्रतिपत्तिः

अविक्षिप्ताऽविपर्यासपरिणताऽनुधार्मिकी ॥ ११ ॥

अनुधर्मप्रतिपत्तिर्द्विविधा—अविक्षिप्ता, अविपर्यस्ता च । अविक्षिप्तत्वेन

यह त्रिविध प्रज्ञा से की गयी मनस्क्रिया साधना में क्या विशेषता लाती है ? उत्तर है—

१. श्रुतमयी प्रज्ञा से मनस्कार करने पर धातुपुष्टि होती है । २. चिन्तामयी प्रज्ञा से उस सुने हुए का अर्थ चित्त में सदा के लिये प्रविष्ट हो जाता है । एवं ३. भावनामयी प्रज्ञा से, भूमिप्रवेशपरिशोधन के कारण, साधक अर्थसिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

उस मनस्कारप्रतिपत्ति का दशविध धर्मचरितों से परिग्रह करना चाहिये । कौन से दश ?

१. महायान (सूत्रों) का लेखन, २. (लिखे हुए ग्रन्थ का) पूजन, ३. (उसका) दूसरों को दान, ४. दूसरों द्वारा पढ़ते हुए (उसका) श्रवण, ५. (उसका) स्वयं पढ़ना, ६. (पढ़े हुए को दूसरे अधिकारी विद्वानों से) समझना, ७. (उस समझे हुए का) दूसरों को उपदेश करना, ८. सूत्रों का प्रतिदिन स्वाध्याय, ९. (उसका) चिन्तन, एवं १०. भावना (निदिध्यासन, अभ्यास) करना ।

यह धर्मचरित (धर्माचरण) अपरिमित पुण्यस्कन्ध का उत्पादक है । क्यों ? क्योंकि उसके अमेय पुण्यस्कन्ध होने में दो कारण हैं—१. वह विशेष (विशिष्टता) एवं २. अक्षयत्वसम्पन्न है; क्योंकि १. परानुग्रहवृत्तित्व के कारण उसकी विशिष्टता, एवं २. परिनिर्वाण होने पर भी उसका अक्षयत्व ज्यों के त्यों रहते हैं ।

मनस्कारप्रतिपत्ति का वर्णन समाप्त ॥

अनुधर्मप्रतिपत्ति—यह प्रतिपत्ति द्विविध है । १. अविक्षिप्त (शमथभावना), और २. अविपर्यस्तपरिणता (विपश्यनाभावना)

परिणता अविक्षिप्ता यत्र समाधौ चित्तं न विचाल्यते। विक्षेपाः षट्॥ ११॥

(अ) अविक्षिप्तपरिणता

व्युत्थानं विषये सारस्तथास्वादलयोद्धवः।
सम्भावनाऽभिसन्धिश्च मनस्कारेऽप्यहंकृतिः॥ १२॥
हीनचित्तञ्च विक्षेपः परिज्ञेयो हि धीमता।

तत्र–व्युत्थानं प्रकृतिविक्षेपः। यदा समाहितस्य पञ्चानां चक्षुरादि-विज्ञानानामन्यतमदेकमुत्पद्यते, तदा समाधितो व्युत्थितो भवति। विषये सारो बहिर्धाविक्षेपः। समाध्यालम्बनं हित्वा मनोविज्ञानस्य विषये सञ्चारः; बहिर्मुखप्रवृत्तितत्त्वात्। तृष्णा अध्यात्मविक्षेपः। समाधेस्तृष्णादिना लयौद्धत्यं च; शुद्धसमाधिविक्षेपकरत्वात्। सम्भावनाभिसन्धिर्निमित्तविक्षेपः। साहङ्कारमनस्कारता दौष्ठुल्यविक्षेपः। हीनचित्तत्वं मनसिकारविक्षेपः; स्वार्थमात्रपरायणत्वात्॥ १२॥

(आ) अविपर्यासपरिणता

व्यञ्जनार्थमनस्कारेऽविसारे लक्षणद्वये॥ १३॥
अशुद्धशुद्धावागन्तुकत्वेऽत्रासे अनुन्नतौ।

अविपर्यासत्वेन परिणता प्रतिपत्तिरविपर्यस्ता। अविपर्यासो व्यञ्जनादौ

(अ) अविक्षिप्तपरिणता—१. इसमें छह प्रकार के विक्षेपों का अभाव रहता है, अतः साधक का समाधि में चित्त विचलित नहीं होता॥ ११॥

यहाँ विक्षेप छह प्रकार का है; १. प्रकृतिविक्षेप, २. बहिर्धा०, ३. अध्यात्म० ४. निमित्त०, ५. दौष्ठुल्य० एव ६. मनस्कारविक्षेप। इन छह विक्षेपों के क्रमशः ये लक्षण हैं—

१. समाधिनिष्ठ का पाँच विज्ञानकायों में से किसी एक के भी उत्पाद के कारण समाधि से व्युत्थान होना 'प्रकृतिविक्षेप' कहलाता है। २. इन्द्रियों का विषयों की तरफ प्रवृत्त होना 'बहिर्धाविक्षेप' कहलाता है। ३. 'अध्यात्मविक्षेप' कहते हैं समाधि की आस्वादना एवं लयौद्धत्य को। ४. 'निमित्तविक्षेप' सम्भावनाभिसन्धि को कहते हैं। ५. साहङ्कारमनस्कारता 'अशुद्धविक्षेप' कहलाती है; क्योंकि वहाँ दौष्ठुल्यवशात् अस्मिमान का समुदाचार होने लगता है। ६. हीनयान (धर्म) की तरफ चित्त का लगाना 'मनस्कारविक्षेप' है॥ १२॥

(आ) अविपर्यासपरिणता—अविपर्यास दश प्रकार की वस्तुओं में देखा जाता है। जैसे—१. व्यञ्जन में, २. अर्थ, ३. मनस्कार, ४. अविसार, ५. स्वलक्षण,

दशविधे वस्तुनि वेदितव्यः—१. व्यञ्जने, २. अर्थे, ३. मनस्कारे, ४. अविसारे, ५. स्वलक्षणे, ६. सामान्यलक्षणे, ७. धर्मधातौ, ८. आगन्तुकद्वये ९. संक्लेशे, १०. व्यवदाने च ॥ १३ ॥

संयोगात् सम्भवाच्चैव वियोगादप्यसम्भवात् ॥ १४ ॥
अर्थसत्त्वमसत्त्वञ्च व्यञ्जने सोऽविपर्ययः ।

तत्र व्यञ्जनेऽविपर्यासः संयोगादिभ्यः । संयोगः=व्यञ्जनानामविच्छिन्नोच्चारणता ।

संयोगाद् व्यञ्जनेऽर्थसत्वं वियोगाच्चासत्यम् । सम्भवान्नामव्यवहारादस्येदं नामेति । सम्भवादर्थसत्वं विपर्ययाच्चासत्त्वम् । सोऽयमविपर्यासः संवृत्या, न तु परमार्थतः; परमार्थस्य शब्दार्थरहितत्वात् ॥ १४ ॥

द्वयेन प्रतिभासत्वं तथा चाऽविद्यमानता ॥ १५ ॥
अर्थे स चाऽविपर्यासः सदसत्त्वेन वर्जितः ।

अर्थेऽविपर्यासो द्वयेन ग्राह्यग्राहकत्वेन प्रतिभासत्वं परतन्त्रस्वभावस्य । तथा चाऽविद्यमानता परिकल्पितस्वभावस्य; सत्त्वेन वर्जितो ग्राह्यग्राहकाऽभावात् । असत्त्वेन च वर्जितस्तत्प्रतिभासभ्रान्तिसद्भावात् । अयमपि संवृत्याऽविपर्यास उच्यते, न परमार्थतः; सविकल्पत्वात् ॥ १५ ॥

तज्जल्पभावितो जल्पमनस्कारस्तदाश्रयः ॥ १६ ॥
मनस्कारेऽविपर्यासो द्वयप्रख्यानकारणे ।

---

६. सामान्यलक्षण, ७. धर्मधातु, ८. आगन्तुकद्वय, ९. संक्लेश एवं १०. व्यवदान में ।

१. व्यञ्जन में अविपर्यास कैसे है ? संयोग होने पर व्यञ्जनों का अविच्छिन्न उच्चारण होने से 'इसका यह नाम है'—ऐसी सम्भावना होने से व्यञ्जनों की सार्थकता और विपर्यय होने पर निरर्थकता—यह जो दिन-प्रतिदिन का अनुभव है, यही 'व्यञ्जन में अविपर्यास' समझना चाहिये ।

२. अर्थ में अविपर्यास कैसे है ? (क) ग्राह्य-ग्राहकत्वद्वय से तदाकारोत्पत्ति के कारण जो प्रतिभासित होता है, अथवा (ख) 'जैसा प्रतिभासित होता है वैसा वस्तुतः है नहीं'—ऐसा जो अर्थ में दर्शन है वही 'अर्थ में अविपर्यास' है ।

३. मनस्कार में अविपर्यास कैसे है ? ग्राह्य-ग्राहकजल्प से (यह ग्राह्य है, यह ग्राहक है—ऐसे अभिलपन) परिभावित जल्पमनस्कार ही ग्राह्यग्राहकविकल्प का आश्रय होता है—यही 'मनस्कार का अविपर्यास' है । किस मनस्कार में ? जो ग्राह्य-ग्राहकद्वयसम्प्रख्यान का कारण है ॥

मायादिवदसत्त्वञ्च सत्त्वं चार्थस्य तन्मतम् ॥ १७ ॥
सोऽविसारेऽविपर्यासो भावाभावाविसारतः ।

मनस्कारेऽविपर्यासः—अयं ग्राह्योऽयं ग्राहक इति वाङ्मनोभ्यां यदभिलपनं स जल्पः, तेन ग्राह्यग्राहकजल्पेन परिभावितो **जल्पमनस्कारः**। सोऽयमालयविज्ञानमनस्कारेऽविपर्यासः । अयमपि संवृत्यैव, न परमार्थतः । अनेनाऽविपर्यासेन बोधिसत्त्वो विपर्यासनिदानं ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशलक्षणं परिवर्जयति ॥ १७ ॥

सर्वस्य नाममात्रत्वं सर्वकल्पाप्रवृत्तये ॥ १८ ॥
स्वलक्षणेऽविपर्यासः,

अविसारेऽविपर्यासः—**अर्थस्य सदसत्त्वं मायादिवन्मतम्। यथा माया** स्वात्मन्यविद्यमानेन हस्त्याद्यात्मना प्रख्यानाद् हस्त्यादिभावेन नास्तीति भ्रान्तिमात्राऽस्तित्वान्न सर्वथा नास्तीति । **आदिशब्देन** मरीचि-स्वप्नोदक-चन्द्रादयो गन्धर्वनगरप्रतिश्रुत्कादयश्च दृष्टान्ता वेदितव्याः । एवं यत् चित्तस्य अविसारत्वेन अविक्षेपत्वेन दर्शनं तदविसारेऽविपर्यासः । अयमपि सविकल्पकत्वात् संवृत्यैव, न परमार्थतः ॥ १८ ॥

लक्षणद्वयेऽविपर्यासः—स्वलक्षणे, सामान्यलक्षणे च ।

परमार्थे स्वलक्षणे ।
धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद् धर्मो न विद्यते ॥ १९ ॥

स्वलक्षणेऽविपर्यासो विज्ञप्तिमात्रता । सर्वमिदं नाममात्रं यदेतत् चक्षूरूपं यावन्मनोधर्मा इति । अतो द्वादशायतनात्मकं ज्ञेयं सर्वं नाममात्रमित्येवं यज्ज्ञानं सर्वविकल्पप्रतिपक्षरूपं तत् स्वलक्षणेऽविपर्यासः । अयमविपर्यासः परमार्थतः स्वलक्षणस्यानभिलाप्यत्वात्, न तु संवृत्या ॥ १९ ॥

---

४. अविसार में अविपर्यास कैसे है ? इस दृश्यमान जगत् में अर्थ का जो कुछ भी सत्त्व या असत्त्व कहा जाता है उसे माया की तरह (भ्रममात्र) माना गया है । जैसे माया (इन्द्रजाल) हस्त्यादि भाव से है भी, नहीं भी है । उसका अस्तित्व भ्रान्तिमात्र है; उसी तरह लोक में अर्थ 'है'—ऐसा व्यवहृत भी होता है, वस्तुतः किन्तु वह नहीं भी है, जो कुछ दिखायी दे रहा है वह भ्रान्तिमात्र है । 'अविपर्यास' कहते हैं जो जहाँ जैसे व्यवस्थित हो उसका वैसा ही ज्ञान होना । निष्कर्ष यह है कि मायादि की उपमा से अनन्तरोक्त (पीछे कहे) अर्थ के सत्त्व या असत्त्व पक्ष में चित्त का जो अविक्षिप्तत्व (अविसार) है वही 'अविसार में अविपर्यास' है ।

५. स्वलक्षण में अविपर्यास क्या है ? 'चक्षूरूप से मनोधर्म तक जो कुछ भी यह दृश्यमान जगत् है वह नाममात्र (कल्पनामात्र) है'—यह ज्ञान सभी विकल्पों का प्रतिपक्ष है । इसे 'स्वलक्षण में अविपर्यास' कहते हैं । किस स्वलक्षण में ? परमार्थ स्वलक्षण में; क्योंकि संवृति से तो 'यह नाममात्र है'—ऐसा ज्ञान होता नहीं ।

सामान्यलक्षणं तस्मात् स च तत्राविपर्ययः ।

सामान्यलक्षणेऽविपर्यासः—न धर्मनैरात्म्येन विना कश्चिद् रूपी अरूपी वा धर्मो विद्यते; सर्वधर्माणामनभिलाप्याऽद्वयप्रकृतित्वाद् ग्राह्यग्राहकभावेन रहितत्वात् । तस्माद् 'धर्मधातुः सर्वधर्माणां धर्मतेति कृत्वा सर्वधर्माणां सामान्यं लक्षणम्' इति ज्ञानं सामान्यलक्षणेऽविपर्यासः । अभिलापस्वभाव-समारोपप्रतिपक्षेण अनभिलाप्यस्वभावता परमार्थलक्षणम् । परिकल्पित-स्वभावनैरात्म्यं पुनः सर्वधर्माणां प्रकृतिरिति सामान्यलक्षणम् ।

एवं दर्शनभेदवशात् स्वसामान्यलक्षणयोर्विशेषो भवति, न त्वर्थात् । दर्शनभेदमधिकृत्य सामान्यलक्षणेऽविपर्यासः संवृत्या वेदितव्यः, न तु परमार्थतः ।

विपर्यस्तमनस्काराऽविहानिपरिहाणितः ॥ २० ॥
तदशुद्धिर्विशुद्धिश्च स च तत्राविपर्ययः ।

धर्मधातौ अविपर्यासः—विपर्यस्तमनस्कार आलयविज्ञानहेतुर्विपर्यय-विकल्पः । तस्याऽप्रहाणं धर्मधातोरविशुद्धिः संक्लेशरूपा । प्रहाणं विशुद्धि-र्व्यवदानरूपा । धर्मधातोः प्रकृतिविशुद्धस्य विपर्ययविकल्पभावाभावोपलक्षित-त्वादयमपि संवृत्यैवाऽविपर्यासः, न परमार्थतः ॥

धर्मधातोर्विशुद्धत्वात् प्रकृत्या व्योमवत् पुनः ॥ २१ ॥
द्वयस्यागन्तुकत्वं हि स च तत्राविपर्ययः ।

आगन्तुकद्वयेऽविपर्यासः—'धर्मधातोराकाशवत् प्रकृतिविशुद्धत्वाद् द्वयम-प्येतदागन्तुकमशुद्धिर्विशुद्धिश्च पश्चात्' इति ज्ञानमागन्तुकद्वयेऽविपर्यासः । अयमप्यविपर्यासः संवृत्यैव, न परमार्थतः ॥

---

६. सामान्यलक्षण में अविपर्यास क्या है ? उत्तर—'क्योंकि धर्मनैरात्म्य के बिना कोई रूपी या अरूपी धर्म विदित नहीं होता, इसलिये धर्मधातु ही सब धर्मों का सामान्य लक्षण है'—ऐसा ज्ञान ही 'सामान्य लक्षण में अविपर्यास' है ॥

७. धर्मधातु की अविशुद्धि एवं विशुद्धि में अविपर्यास क्या है ? आलयविज्ञान का हेतु विपर्यस्तमनस्कार का अप्रहाण ही यहाँ 'अविशुद्धि' है, उसका प्रहाण 'विशुद्धि' है'—ऐसा ज्ञान ही क्रमशः अविशुद्धि और विशुद्धि में अविपर्यास है । यहाँ 'अविशुद्धि' से तात्पर्य है संक्लेशप्रहाण और 'विशुद्धि' से तात्पर्य है व्यवदान (संक्लेशप्रहाण) ।

८. आगन्तुक में अविपर्यास क्या है ? 'धर्मधातु तो आकाश की तरह प्रकृत्या विशुद्ध है अतः उसमें उपर्युक्त अविशुद्धि और विशुद्धि दोनों ही बाद में (आगन्तुक) आती हैं'—ऐसा ज्ञान ही 'आगन्तुक में अविपर्यास' है ॥

संक्लेशश्च विशुद्धिश्च धर्मपुद्गलयोर्न हि ॥ २२ ॥
असत्त्वात् त्रासता-मानौ नातः सोऽत्राविपर्ययः ।

संक्लेशे व्यवदाने चाऽविपर्यासः—न पुद्गलस्य संक्लेशो नापि विशुद्धिः। नापि धर्मस्य; यस्मान्न पुद्गलोऽस्ति न धर्मः; परिकल्पितात्मकत्वात्। अतोऽसत्त्वाद् पुद्गलधर्मयोर्बन्ध्यापुत्रादिवत् न संक्लेशः, न व्यवदानम्। परतन्त्रस्यापि शुद्धलौकिकज्ञानगोचरस्य संक्लेशविशुद्धी नैवेष्येते; तस्य निरभिलाप्याद्वयप्रकृतित्वात्। कस्य पुनस्ते स्याताम्? धर्मधातोः। तस्यापि अतन्मयस्य एव; तयोरागन्तुकत्वात्, धर्मधातोश्चाकाशवदविकारत्वाद्। तस्मान्न संक्लेशे हानिर्वा, त्रासो वा; नापि व्यवदाने वृद्धिर्वा उन्नतिर्वा। अयमपि संवृत्याऽविपर्यासः, न परमार्थतः।

दश वज्रपदानि

एवमेते दश अविपर्यासाः स्वभावत्रये वेदितव्याः। ते च सूत्रोक्तेषु दशसु वज्रपदेषु यथाक्रमं योजयितव्याः। वज्रमिव वज्रम्=सर्वविपर्यासभेदित्वादविपर्यासज्ञानम्, तच्च एतैः प्रतीयते इति वज्रपदानि। उक्तं च—

'सदसत्ताऽविपर्यास आश्रयो माययोपमा ।
निर्विकल्पः प्रकृत्या च भास्वरत्वं सदैव हि ॥
संक्लेशो व्यवदानञ्चाऽऽकाशोपमता तथा ।
अहीनत्वाधिकत्वञ्च दश वज्रपदानि हि ॥' इति ।

९-१०. संक्लेश एवं व्यवदान में अविपर्यास क्या है? वस्तुतः न पुद्गल को संक्लेश होता है और न धर्मधातु की विशुद्धि; क्योंकि परमार्थतः न पुद्गल है न धर्म। यों सिद्ध हुआ कि यहाँ किसी को न कोई कर्मसंक्लेश होता है न कोई उसका व्यवदान, अतः 'न तो सक्लेशपक्ष में किसी की हानि है और न व्यवदानपक्ष में कोई विशुद्धि (विशेष), जिसके कारण कोई त्रास या उन्नति होती हो'—यह ज्ञान ही 'अत्रास एवं अनुन्नति में अविपर्यास' कहलाता है॥

ये ही उपर्युक्त दश अविपर्यास दश वज्रपदों में क्रमशः संयुक्त कर लेने चाहियें। दश वज्रपद ये हैं—१. सदसत्ताविपर्यास, २. आश्रय, ३., मायोपमता, ४. अविकल्पनता, ५. प्रकृतिप्रभास्वरता, ६. संक्लेश, ७. व्यवदान, ८. आकाशोपमता, ९. अहीनता, एवं १०. अविशिष्टता। वज्र की तरह सभी विपर्यासों का भेदक होने के कारण अविपर्यासज्ञान को ही 'वज्र' कहा जाता है। वह ज्ञान इन दश वज्रपदों से ज्ञात होता है, अतः ये 'वज्रपद' कहलाते हैं।

इन वज्रपदों का शरीर-व्यवस्थापन प्रथमतया चार तरह से होता है। १. स्वभावतः, २. आलम्बनतः, ३. अविकल्पनतः और ४. चोद्यपरिहारतः। वहाँ—

अपि च—'यत्र या च यतो भ्रान्तिरभ्रान्तिर्या च यत्र च।
भ्रान्त्यभ्रान्तिफले चैव पर्यन्तश्च तयोरिति॥

---

१. स्वभावतः अर्थात् परिनिष्पन्न, परिकल्पित, परतन्त्राख्य भेद रूप तीन स्वभावों से आदि के तीन वज्रपदों का व्यवस्थापन जानना चाहिये।

२. आलम्बनतः भी उन्हीं तीनों का व्यवस्थापन जानना चाहिये।

३. अविकल्पनतः—इस तरह कि जिस निर्विकल्पक ज्ञान से जो विकल्पित न होता हो, या जो प्रकृतिप्रभास्वरता को विकल्पित न करे उस ज्ञान से व्यवस्थापन जानना चाहिये। इस तरह तीन स्वभावों और अविकल्पनता से यथाक्रम ज्ञेय-ज्ञानव्यवस्थापन जानना चाहिये।

४. चोद्यपरिहारतः—अवशिष्ट पदों का व्यवस्थान जानना चाहिये। यहाँ कोई वज्रपद चोद्य (शङ्का) का स्वयं परिहार (समाधान) है; जैसे—मायोपमता, आकाशोपमता, और अहीनाविशिष्टता। तथा कोई फिर चोद्य ही है; जैसे—संक्लेश एवं व्यवदान। कुछ में चोद्य एवं परिहार दोनों होते हैं; जैसे--(क) 'यदि ये परिकल्पित परतन्त्र लक्षण धर्म नहीं हैं तो ग्राह्यग्राहकत्व रूप से उपलब्ध कैसे होते हैं ?"—यह हुआ चोद्य; इस चोद्य का 'मायोपमता' वज्रपद से परिहार किया जाता है। अर्थात् जैसे मायाकृत हस्त्यादि वस्तुतः हैं नहीं, परन्तु उपलब्ध होते हैं। (ख) इसी तरह 'धर्म यदि प्रकृत्या प्रभास्वर हैं, तो उनमें पहले संक्लेश एवं बाद में उनकी शुद्धि कैसे होती है ?'; इसका परिहार 'संक्लेश', 'व्यवदान' और 'आकाशोपमता'--वज्रपदों से किया जाता है। (ग) इसी तरह 'अप्रमेय बुद्धोत्पाद के मानने पर अप्रमेय प्राणियों के क्लेशों का उपशम होकर उन सभी के निर्वाण प्राप्त कर लेने पर, संसारोच्छेद क्यों नहीं होता ?' यह हुआ चोद्य; इसका परिहार 'अहीनता', एवं 'अविशिष्टता'--पदों से किया जा सकता है। (१)

इन्हीं वज्रपदों का शरीरव्यवस्थापन एक दूसरी पद्धति से भी हो सकता है। वह यह है--

इन दश वज्रपदों से भ्रान्तिविषय, भ्रान्तिस्वरूपता, भ्रान्तिहेतु, भ्रान्तिफल एवं भ्रान्तिपर्यन्त का निर्देश है। इसी तरह अभ्रान्तिविषय, अभ्रान्तिस्वरूप, अभ्रान्तिफल एवं अभ्रान्तिपर्यन्त का भी निर्देश है॥ (२)

प्रसङ्गवश, आचार्य स्थिरमति ने इस शास्त्र की अपनी व्याख्या में विपर्यासों को भी विस्तशः बताया है। वह यों है--परिनिष्पन्न शब्दार्थ के सम्बन्धदर्शन को 'विपर्यास' कहते हैं। वह दश प्रकार का है; जैसे--१. स्वभावसत्तादर्शन-विपर्यास, २. तदर्थप्रवृत्तिकारणदर्शन०, ३. अर्थसमारोपापवाद०, ४. यथानामार्थ-स्वभावदर्शन, ५. भावों का स्वलक्षण और सामान्यलक्षण में वस्तुत्वेन निर्देश, ६–७.

२. (घ) अन्तद्वयवर्जनप्रतिपत्तिः

पृथक्त्वैकत्वमन्तश्च तीर्थ्यश्रावकयोरपि ॥ २३ ॥
समारोपापवादान्तो द्विधा पुद्गलधर्मयोः ।

अन्तद्वयवर्जने प्रतिपत्तिः—इयमेव **रत्नकूटे** मध्यमा प्रतिपदिति उपदिष्टा। अनेकविधोऽयमन्तद्वयभेदः। तत्र यथा रूपादिभ्यः पृथक्त्वमात्मन इति तीर्थिकान्तः, एकत्वमिति श्रावकान्तः। रूपादयो नित्या इति तीर्थिकान्तः, अनित्या इति श्रावकान्तः। अस्तीति शाश्वतान्तः, नास्तीति उच्छेदान्तः। ग्राह्यग्राहकभावः परमार्थतोऽस्तीत्यन्तः, व्यवहारतोऽपि नास्तीत्यन्तः। एवमन्यत्राऽपि वेदितव्यम्। समारोपापवादवर्जनमन्तद्वयवर्जनम् ॥

स्वस्ति (शुभ) के सञ्चार से विशुद्धि एवं अस्वस्ति (अशुभ) के सञ्चार से अविशुद्धि—ऐसा दर्शन०, ८. किसी एक का अशुद्धि या विशुद्धिदर्शन०, ९-१०. संक्लेश या व्यवदान के प्रहाणप्रतिलम्भ से होने वाले हानिविशेष के त्रास एवं मान का प्रवृत्तिदर्शनविपर्यास। यों, ये दश 'विपर्यास' कहलाते हैं। बोधिसत्व में ये सब नहीं होते, अत, उसकी अविपर्यासावस्थित होने पर, यथोक्त अर्थों में अपरिणत भावना समझनी चाहिये।

अनुधर्मप्रतिपत्ति का वर्णन सम्पन्न ॥

(घ) अन्तद्वयवर्जनप्रतिपत्ति—दोनों अन्तों को छोड़कर मध्यमा प्रतिपद् (मार्ग) को स्वीकार करना ही 'अन्तद्वयवर्जनप्रतिपत्ति' कहलाती है। इस अन्तद्वयावर्जनप्रतिपत्ति का **रत्नकूटसूत्र** में भगवान् ने विस्तार से उपदेश किया है।

किस अन्तवर्जन के लिये भगवान् ने इसका उपदेश किया है? उत्तर--इन अधोलिखित पन्द्रह (१५) अन्तद्वयों के परिवर्जन के लिये। इनमें पहले विकल्प में आठ (८) अन्तद्वय हैं और दूसरे में सात (७)।

१. 'रूपादिकों से आत्मा की पृथक् सत्ता है'--यह एक अन्त है, 'नहीं है'—यह दूसरा अन्त है, उसके परिवर्जन के लिये मध्यमा प्रतिपद् का उपदेश किया है। क्योंकि यह तो वस्तुतः भूत (=सत्य, यथातथ) प्रत्यवेक्षा है, न कि आत्मप्रत्यवेक्षा या मानवप्रत्यवेक्षा।

२. 'रूप नित्य है'--ऐसा कुछ दार्शनिक मानते हैं, वहीं दूसरे दार्शनिक उसे (रूप को) अनित्य मानते हैं; इस अन्तद्वय के परिवर्जन के लिये मध्यमा प्रतिपद् को अङ्गीकार करना चाहिये; जो न तो इन रूपादिकों की नित्यप्रत्यवेक्षा है, न अनित्यप्रत्यवेक्षा, अपितु वह निर्विकल्पक ज्ञान है।

३. स्कन्ध, धातु, आयतन से व्यतिरिक्त या अव्यतिरिक्त, बन्ध्यापुत्र की तरह असत् आत्मा को द्रव्यतः देखते हुए पुद्गल का वस्तुरूप से समारोप-अन्त है,

विपक्षप्रतिपक्षान्तः शाश्वतोच्छेदसंज्ञितः ॥ २४ ॥
ग्राह्यग्राहकसंक्लेशव्यवदाने द्विधा त्रिधा ।
विकल्पद्वयतान्तत्वात् स च सप्तविधो मतः ॥ २५ ॥
भावाभावे प्रशाम्येऽथ शमने त्रास्य-तद्भये ।
ग्राह्यग्राहकसम्यक्त्व-मिथ्यात्वे व्यापृतौ न च ॥ २६ ॥
अजन्मसमकालत्वे सविकल्पद्वयाऽन्तता ।

उसी आत्मा को न मानना अपवाद-अन्त है; उनके परिवर्जन के लिये मध्यमा प्रतिपद् है—निर्विकल्प ज्ञान से आत्मा की सत्ता या असत्ता का परिवर्जन करना।

४. 'धर्म जैसा प्रतिभासित होता है, या जैसा उसका अभिलाप किया जाता है वह वैसा ही है'—वह एक अन्त है, 'वह वैसा नहीं है'—यह दूसरा अन्त है; इन दोनों अन्तों के परिवर्जन हेतु मध्यमा प्रतिपद् स्वीकार की जाती है; जिसमें चित्त (आलयविज्ञान) है, न चेतना, (मनस्कर्म) न मन (क्लिष्ट मन) और न विज्ञान (छह विज्ञानकाय) ही है।

५. 'अकुशलादि धर्म ही संक्लेश हैं'—यह विपक्षान्त है, 'कुशलादि व्यवदान हैं'—यह प्रतिपक्षान्त है। इनके परिवर्जन के लिये मध्यमा प्रतिपद् स्वीकार की जाती है। यह मध्यमा प्रतिपद् क्या है १. वह है इस अन्तद्वय का अनुपगम (विपक्षा-प्रतिपक्षा का अनभिनिवेश), अनुदाहार (उस अन्तद्वय में दूसरों का असमा-पादान) एवं अप्रव्याहार (उन्हीं दोनों अन्तों का असंवर्णन)।

६. 'वे पुद्गल और धर्म शाश्वत हैं'—यह एक अन्त है, 'वे नहीं हैं'—यह दूसरा अन्त है; इन दोनों के परिवर्जन के लिये मध्यमा प्रतिपद् माननी चाहिये।

७. कृष्ण (अविद्या से जरामरण तक) एवं शुक्ल (अविद्यानिरोध में जरा-मरण निरोध तक) इस पक्ष-भेद से ग्राह्य ग्राहक का एक-एक अन्त है। इन दोनों के परिवर्जन के लिये मध्यमा प्रतिपद् स्वीकार की जाती है। क्योंकि वहाँ वस्तुतः न विद्या का उत्पाद होता है न अविद्या का निरोध, न संस्कार प्रहेय हैं न उनका निरोध प्राप्तव्य है—यह ज्ञान ही मध्यमा प्रतिपद् (अद्वैधीकार) है।

८. संक्लेश तीन प्रकार के हैं—१. क्लेशसंक्लेश, २. कर्मसंक्लेश, और ३. जन्मसंक्लेश। १. उनमें क्लेशसंक्लेश भी तीन प्रकार का है—१. (सत्कायादि) दृष्टि, (शोकादि तथा पुनर्भव का हेतु होने के कारण) राग-द्वेष-मोहरूपी निमित्त एवं ३. पुनर्भवप्रणिधान (पुनर्भवप्रार्थना)। इनके क्रमशः प्रतिपक्ष ये हैं—१. ज्ञान-शून्यता (शून्यताविषयक ज्ञान), २. ज्ञाननिमित्त (अनिमित्तविषयक ज्ञान), एवं ३. ज्ञानाप्रणिहित (पुनर्भवशून्यताविषयक ज्ञान)। २. शुभ-अशुभ कर्मों का अभिसंस्कार (उपचय) ही कर्मसंक्लेश है। जिसका प्रतिपक्ष है ज्ञानानभिसंस्कार (पुनर्भवानभिसंस्कार) अर्थात् तथताविषयक ज्ञान। ३. जन्मसंक्लेश भी

त्रिविध है—१. पुनर्भवजाति (प्रतिसन्धिचित्त), २. उत्पन्न के चित्तचैत्तों प्रतिक्षण उत्पाद, एवं ३. पुनर्भवप्रबन्ध (क्लेशसहित मरणभव)। इनके भी प्रतिपक्ष क्रमशः ये हैं—१. ज्ञानाजाति, २. ज्ञानानुत्पाद एवं ३. ज्ञानास्वभावता। इस त्रिविध संक्लेश का अपगम (नाश) ही व्यवदान (तथतादि) है। वहाँ ज्ञानशून्यतादिकों से ज्ञेयशून्यतादि धर्म नहीं किये जाते; क्योंकि वे तो स्वभावतः ही शून्यतादि हैं। पीछे कहा ही जा चुका है कि धर्मधातु तो प्रकृतितः ही असंक्लिष्ट है। वहाँ धर्मधातु पहले संक्लिष्ट हो फिर उसकी विशुद्धि हो—ऐसा मानने वालों का एक अन्त (पक्ष) है। इस अन्त-परिवर्जन के लिये यह मध्यमा प्रतिपद् माननी पड़ती है कि 'कोई शून्यता से धर्मों को शून्य नहीं करता, अपितु धर्म ही शून्य हैं' इत्यादि।

इस अन्तद्वय का दूसरा विकल्प सात प्रकार का होता है; जैसे—

१. 'सत्ता (पुद्गल) मानने पर भी विकल्प है'—यह एक अन्त है, और 'अभाव (नैरात्म्य) मानने पर भी विकल्प है'—यह दूसरा अन्त है। कैसे ? पुद्गल है भी कि जिसके विनाश के लिये शून्यता की भावना की जाती है; अथवा—नैरात्म्य भी पुद्गलभाव होने से नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्ष विपक्षरहित नहीं होता। यों यह भावाभावविकल्प एक अन्त हुआ, जिसके परिवर्जन के लिये यह मध्यमा प्रतिपत् (शून्यता) स्वीकार करनी पड़ती है। क्योंकि वास्तविकता यह है कि हम पुद्गलविनाश के लिये शून्यता स्वीकार नहीं करते, अपितु शून्यता तो प्रकृत्यैव शून्य है। यह शून्यता, विस्तार से समझने के लिये, त्रिविध कही जा सकती है—१. पूर्वान्तशून्यता, २. अपरान्तशून्यता, और ३. प्रत्युत्पन्नशून्यता। यों कालत्रय में उसका समान अस्तित्व प्रतिपादित किया गया है। अथवा वहाँ पृथग्जनावस्था पूर्वान्त है, अशैक्षावस्था अपरान्त है, और शैक्षावस्था प्रत्युत्पन्न है।

२. शान्त करने योग्य धर्मों की प्रहेय, और शून्यता की प्रहाण (शमन) रूप से कल्पना करके शून्यता में उत्त्रास होता है। कैसे ? त्रिविध संक्लेश प्रहेय है, वह यदि प्रकृतिशून्य है तो उसमें पुद्गलवत् प्रहेयता कैसे बनेगी ! अतः प्रहेय के न होने से प्रहाण का भी अभाव ही रहेगा—यों शून्यता में उत्त्रास (त्रास, भय) उत्पन्न होगा—यह भी एक अन्त है। अतः इस विकल्पद्वय के परिवर्जन के लिये आकाश का दृष्टान्त दिया जाता है। अर्थात् जैसे आकाश सर्वानुगत होने से उसका अपनयन नहीं किया जा सकता, उसी तरह शून्यता भी सब समय सर्वत्र व्यवस्थित है, उसका भी अपनयन नहीं किया जा सकता।

३. जिससे त्रास सम्भव हो वह 'त्रास्य' कहलाता है। इसी तरह त्रास्य से उत्पन्न होने वाले 'भय' के विषय में भी समझना चाहिये; क्यों कि यहाँ उसकी भी

वही व्युत्पत्ति है—जिससे डरा जाय । अतः जो अनिष्ट फल हो उसमें त्रास्य या भय उत्पन्न होने पर साधक जो विकल्प करता है वही अन्त है। क्योंकि अविवेकी पृथग्जन परिकल्पित रूपादियों की वास्तविकता की कल्पना कर उनसे भय एवं अनिष्ट परिणाम की कल्पना करते हैं। इस विकल्पद्वयरूप अन्त के परिवर्जन के लिये चित्रकर का दृष्टान्त (उपमा) दिया गया है। अर्थात् जैसे चित्रकार, किसी भयानक यक्ष (राक्षस) का चित्र बनाकर, वह स्वयं ही उससे डरने लगे, उसी तरह अविवेकी मूर्ख जन, स्वयं ही रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्पर्श की कल्पना करके, उनके कारण संसार में घूमते रहते हैं, परन्तु उनकी वास्तविकता को नहीं जान पाते; जैसे कि चित्रकार अपने ही द्वारा बनाये हुए चित्र से भय खाता हुआ उसकी वास्तविकता को जानने में असमर्थ रहता है।

पिछले (क्रमसंख्या २) अन्तद्वय के परिवर्जन में आकाश का दृष्टान्त-श्रावकों को लेकर है, और यह (चित्रकर का) दृष्टान्त बोधिसत्त्व को लेकर। अर्थात् पहले में आत्मग्राहप्रतिपक्ष त्रास का कारण है और दूसरे में धर्मग्राहप्रतिपक्ष।

४. 'ग्राह्य में भी विकल्प है'—यह एक अन्त है, और 'ग्राहक में भी विकल्प है'—यह दूसरा अन्त। इन दोनों विकल्पान्तों के परिवर्जनहेतु शास्त्रकार ने मायाकार का दृष्टान्त दिया है; क्योंकि अर्थाभाव (ग्राह्य-ग्राहकद्वयाभाव) का ज्ञान विज्ञप्तिमात्र ज्ञान पर आधृत है। वह (अर्थाभाव का) ज्ञान ही उसी विज्ञप्तिमात्र ज्ञान को भी निवृत्त कर देता है, क्योंकि अर्थाभाव होने पर विज्ञप्ति सम्भव नहीं है—यही यहाँ उपमा और उपमेय में सादृश्य है॥

५. कुछ लोग भूतप्रत्यवेक्षा में सम्यक्त्व मानते है और कुछ मिथ्यात्व। इन सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों ही अन्तों के परिवर्जनहेतु काष्ठद्वयाग्नि का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे अग्निरहित काष्ठद्वय से अग्नि उत्पन्न होती है, उत्पन्न होनेपर वही अग्नि उस काष्ठद्वय को जला डालती है, इसी तरह मिथ्यालक्षणा यथाभूतप्रत्यवेक्षा से सम्यक्त्वलक्षणा आर्यप्रज्ञा उत्पन्न होती है, फिर उत्पन्न होने पर वही प्रज्ञा उस भूतप्रत्यवेक्षा की विभावना करती है। यही यहाँ इस उपमा (काष्ठद्वय से उत्पन्न अग्नि) और उपमेय (मिथ्यात्वलक्षणा भूतप्रत्यवेक्षा) में सादृश्य है।

६. 'यह मेरा ज्ञान वास्तव में अज्ञान ही है, अतः इसका प्रहाण करूँगा'—यह विकल्प भी एक अन्त है, फिर 'क्योंकि ज्ञान के क्षणिक होने से प्रहाणकाल में उसकी स्थिति ही सम्भव नहीं है, अतः अज्ञानप्रहाण की सम्भावना नहीं है'—यह दूसरा अन्त है; इन दोनों विकल्पों के परिवर्जन हेतु तैलप्रदयोत का दृष्टान्त जानना चाहिये। जैसे तैल का दीपक जलाने पर गाढ अन्धकार विनष्ट हो जाता है, परन्तु उस समय दीपक को यह नहीं होता कि मैं अन्धकार नष्ट कर रहा हूँ, उसी तरह ज्ञान के उत्पन्न

२. (ङ–च) विशिष्टाविशिष्टप्रतिपत्तिः

विशिष्टा चाविशिष्टा च ज्ञेया दशसु भूमिषु ॥ २७ ॥

यस्यां भूमौ या पारमिता अधिमात्रया भवति, सा तत्र विशिष्टा; यथा–– प्रथमायां दानपारमिता । अन्या अविशिष्टाः ॥ २७ ॥

होने पर अज्ञान स्वतः नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे प्रदीप व्यापारशून्य होता है उसी तरह केवल निर्विकल्प ज्ञान की सत्ता के सद्भाव से उत्पन्न सन्तान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।

७. यदि प्रतिपक्ष की अनुत्पत्ति की कल्पना की जाय, जैसे 'इतने समय जब प्रतिपक्ष उत्पन्न न हुआ तो वह अब क्या उत्पन्न होगा'—यह हुआ अजन्मत्वरूप प्रथम विकल्प; या फिर यह कल्पना की जाय कि 'यदि किसी तरह उत्पन्न हो भी जाय तो भी चिरकालविरुद्ध होने से अज्ञान का तात्क्षणिक ज्ञान से व्युदास (नाश) नहीं किया जा सकता। इस तरह संक्लेश और व्यवदान में समानकालत्व विकल्प आ जायगा'––यह हुआ दूसरा अन्त। इन दोनों अन्तों का भी तैलप्रद्योत दृष्टान्त से परिवर्जन होगा। जैसे कोई मकान हजारों वर्षों से निर्जन पड़ा हो, वहाँ कभी कोई पुरुष आकर दीपक जला दे। तब क्या वहाँ हजारों वर्षों से स्थित अन्धकार को यह होगा कि मैं तो यहाँ हजारों वर्षों से रह रहा हूँ। अब मैं इस दीपक के प्रकाश से, यहाँ से क्यों हटूँ !' दीपक का प्रकाश होने पर अन्धकार में इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह उस समय एक क्षण भी वहाँ ठहर सके। यों दीपकरूप प्रज्ञा से कर्मक्लेशरूपी अन्धकार, दुर्बल होने के कारण, तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

यों अन्तद्वयवर्जनसमापत्ति का व्याख्यान सम्पन्न हुआ ॥

२. (ङ–च) **विशिष्टा एवं अविशिष्टा प्रतिपत्ति**—उक्त दश भूमियों में एक-एक में दो प्रकार की प्रतिपत्ति भी होती है। जैसे–१. जिस बोधिसत्त्वभूमि में व्यवस्थित बोधिसत्त्व जिस पारमिता में अधिकतया साधना करता है, वह पारमिता दूसरी पारमिताओं से विशेषतया अतिरिक्त होती है, अतः वह 'विशिष्टा' कहलाती है। जैसे–प्रथम भूमि में दानपारमिता। इसी तरह क्रमशः दशमी भूमि तक समझना चाहिये। इसमें ज्ञानपारमिता, अधिकतया साधना करने से, 'विशिष्टा' कहलाती है। २. और सामान्यतः शेष सभी पारमिताओं में उस-उस भूमि में जिस जिस प्रतिपत्ति का समुदागमन होता रहे उसे 'अविशिष्टा' कहते हैं। जैसे प्रमुदिता भूमि में दानपारमिता जितनी अतिरिक्ततर (विशिष्ट) होती है, उतनी अन्य भूमियों में नहीं होती, अतः वही अन्य भूमियों में 'अविशिष्ट' कहलाती है ॥ २७ ॥

इस तरह प्रतिपत्त्यानुत्तर्य का वर्णन सम्पन्न हुआ ॥

३. आलम्बनानुत्तर्यम्

व्यवस्थानं तथा धातुः साध्यसाधनधारणा ।
अवधारप्रधारा च प्रतिवेधः प्रतानता ॥ २८ ॥
प्रगमः प्रशठत्वञ्च प्रकर्षालम्बनं मतम् ।

द्वादशविधमालम्बनम् । १. व्यवस्थानालम्बनं बोधिपक्षाऽऽर्यसत्यादि-धर्मप्रज्ञप्तिव्यवस्थानालम्बनम् । २. तथतालम्बनम् धर्मधात्वालम्बनम् । ३. साध्यालम्बनं धर्मधातुप्रतिवेधात् । ४. साधनालम्बनं पारमितादिधर्मा-धिगमात् । ५. धारणालम्बनम् श्रुतमयस्य ज्ञानस्य । ६. अवधारणालम्बनं चिन्तामयस्य ज्ञानस्य । ७. प्रधारणालम्बनं भावनामयस्य ज्ञानस्य । ८. प्रति-वेधालम्बनं प्रथमायां भूमौ दर्शनमार्गालम्बनाद् धर्मधातोः सर्वत्रगत्वप्रतिवेधः । ९. प्रतानतालम्बनं भावनामार्गस्य यावत् सप्तम्यां भूमौ । १०. प्रगमालम्बनं तत्रैव लौकिकलोकोत्तरमार्गस्यालम्बनम् । प्रकारेण धर्माधिगमात् प्रगमः । ११. प्रशठालम्बनमष्टम्यां भूमौ भावनामार्गालम्बनम् । सर्व-निमित्ताभोगमन-सिकारविगतस्य स्वरसेन प्रशठवहनाद् भावनामार्गः प्रशठता । १२. प्रकर्षा-लम्बनं नवम्यां भूमौ प्रतिसंविज्ज्ञानप्रकर्षलाभात्, दशम्यां भूमौ कर्मवशिता-प्रकर्षलाभात्, बुद्धभूमौ चाऽशेषक्लेशज्ञेयावरणविशुद्धिप्रकर्षलाभात् ॥ २८ ॥

---

३. आलम्बनानुत्तर्य—यह आनुत्तर्य क्या है ? द्वादशविध (१२) आलम्बन ही आलम्बनानुत्तर्य है । ये द्वादशविध आलम्बन इस तरह परिगणित किये जा सकते हैं । जैसे—

१. धर्मप्रज्ञप्तिव्यवस्थानालम्बन (पारमितादि धर्म से)
२. धर्मधात्वालम्बन (तथता से)
३. साध्यालम्बन (धर्मधातुप्रतिवेध से)
४. साधनालम्बन (पारमितादि धर्माधिगम से)
५. धारणालम्बन (श्रुतमय ज्ञानका आलम्बन)
६. अवधारणालम्बन (चिन्तामय ज्ञान का०)
७. प्रधारणालम्बन (भावनामय ज्ञान का०)
८. प्रतिवेधालम्बन (प्रथमा भूमि में दर्शनमार्गालम्बन से धर्मधातु प्रतिवेध)
९. प्रतानतालम्बन (सप्तमी भूमि तक भावनामार्ग का०)
१०. प्रगमालम्बन (वहीं लौकिक लोकोत्तर मार्ग का०)
११. प्रशठतालम्बन (आठवीं भूमि में भावनामार्ग का०)
१२. प्रकर्षालम्बन (नवमी, दशमी एवं बुद्धभूमि में भावनामार्ग का आलम्बन)

आलम्बनानुत्तर्य का व्याख्यान सम्पन्न ॥

४. समुदागमानुत्तर्यम्

अवैकल्याऽप्रतिक्षेपोऽविक्षेपश्च प्रपूरणा ॥ २९ ॥
समुत्पादो निरूढिश्च कर्मण्यत्वाप्रतिष्ठिता ।
निरावरणता तस्याऽप्रस्रब्धिसमुदागमः ॥ ३० ॥

दशविधः समुदागमः। तत्र १. प्रत्ययावैकल्यं गोत्रसमुदागमः। प्रत्ययानामवैकल्यं समग्राणां सान्निध्यम्। तेष्वाहृतेषु गोत्रं समुदागच्छति। २. महायानाऽप्रतिक्षेपोऽधिमुक्तिसमुदागमः। यदा महायानधर्मं न प्रतिक्षिपति तदाऽधिमुक्तेः पुष्टिर्भवति। ३. हीनयानाऽविक्षेपश्च चित्तोत्पादसमुदागमः। श्रावकयाने प्रत्येकबुद्धयाने वा यदा चित्तमस्य न क्रमते तदा बोधिचित्तं पुष्टिमापद्यते। ४. पारमितापरिपूरणं प्रतिपत्तिसमुदागमः। अत्र चोत्पादितबोधिचित्तस्य सर्वज्ञताप्रतिपत्तिपुष्टिर्भवति। ५. आर्यमार्गोत्पादो न्यामावक्रान्तिसमुदागमः। आमः=दोषः, क्षयो वा। स यत्र नास्ति सा न्यामा अनास्रवा भूमिः। अवक्रान्तिः=प्रवेशः। भाष्येऽत्र नियमावक्रान्तिपाठेऽपि उत्पन्नदर्शनमार्गो नियतो भवति सुगतौ निर्वाणे चेत्यर्थः। ६. कुशलमूलनिरूढिः सत्त्वपरिपाकसमुदागमः। लब्धदर्शनमार्गाणां तत्पृष्ठलब्धस्य भावनामार्गस्य दीर्घकालाभ्यासात् कुशलमूलवृद्धिस्तया सत्त्वपरिपाचनसामर्थ्यम्। ७. चित्तकर्मण्यता क्षेत्रपरिशुद्धिसमुदागमः। भावनया विवृद्धकुशलमूलानां मार्गविपक्षयोर्निमित्ताऽऽभोगयोर्विगमाच्चित्तस्य कर्मण्यता, यया बुद्धक्षेत्रं पश्यति। ८. भूतदया निर्वाणाऽप्रतिष्ठाव्याकरणलाभसमुदागमः। सत्त्वकारुण्याद् बोधिसत्त्वो निरुपधिशेषे निर्वाणे न प्रतिष्ठते; कृपया संसाराऽऽदानात्। ९. प्रज्ञा संसाराऽप्रतिष्ठाव्याकरणलाभसमुदागमः। बोधिसत्त्वः संसारक्लेशे न प्रतिष्ठते प्रज्ञया अप्रतिष्ठितनिर्वाणानुभवात्। एवं संसारनिर्वाणाऽप्रतिष्ठितो बोधिसत्त्वोऽचलत्यां भूमौ तिष्ठतीति बुद्धव्याकरणलाभसमुदागमः। १०.अनावरणं बुद्धभूमिसमुदागमा निःशेषक्लेशज्ञेयावरणप्रहाणादिति ॥२९-३०॥

---

४. समुदागमानुत्तर्य—उस-उस प्रतिपत्ति जो समुन्नति की जाती है उसे 'समुदागम' कहते हैं। उससे अन्यसमुदागमों विशिष्ट होने के कारण, अथ च उससे किसी अन्य के विशिष्ट न होने के कारण उसे 'समुदागमानुत्तर्य' कहते हैं। यह समुदाय दश (१०) प्रकार का है; जैसे—

१. गोत्रसमुदागम (प्रत्ययावैकल्य)
२. अधिमुक्तिसमुदागम (महायानाप्रतिक्षेप)
३. चित्तोत्पादसमुदागम (हीनयानाविक्षेप)
४. प्रतिपत्तिसमुदागम (पारमितापरिपूरणा)

शास्त्रनामव्याख्यानम्

शास्त्रं मध्यविभागं हि गूढसारार्थमेव च।
महार्थं चैव सर्वार्थं सर्वाऽनर्थप्रणोदनम् ॥ ३१ ॥

॥ इति यानानुत्तर्यपरिच्छेदः पञ्चमः ॥

❀ समाप्ता मध्यान्तविभागकारिका: ❀

शास्त्रेऽस्मिन् मध्यान्तविभागः द्वयोर्मध्यान्तयोः प्रदर्शनात् ।

मध्यं हि अद्वयधर्मधातुः । तदेव मध्यमा प्रतिपत् । अन्तस्तु समारोपाऽपवादरूपा अन्तद्वयकल्पना। दुर्गमसारताऽर्थकं तर्काऽगोचरत्वात् । बोधिसत्त्वचर्यामुद्दिश्य स्वपरार्थप्रतिपादनान्महार्थम् । यानत्रयमधिकृत्य सर्वार्थम् । क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणात् सर्वाऽनर्थनिवर्तकम् ॥ ३१ ॥

आगमानुसारिण्यां मध्यान्तविभागटीकायाम्
यानानुत्तर्यपरिच्छेदः पञ्चमः समाप्तः ॥
समाप्ता चेयं आगमानुसारिणी मध्यान्तविभागटीका
आचार्यभदन्तस्थिरमतिविरचिता ॥

---

५. नियामानक्रान्तिसमुदागम (आर्यमार्गोत्पाद)
६. सत्त्वपरिपाकसमुदागम (दीर्घकाल के परिचय से कुशलमूलनिरूढित्व)
७. क्षेत्रपरिशुद्धिसमुदागम (चित्तकर्मण्यता)
८. अविनिवर्तनीयभूमिव्याकरणलाभसमुदागम (संसार-निर्वाणाप्रतिष्ठितता)
९. बुद्धभूमिसमुदागम (निरावरणता)
१०. बोधिसन्दर्शनसमुदागम (अप्रश्रब्धि महाकृपात्रशात् सभी लोकों में बोधिदर्शन)

शास्त्रनाम-व्याख्यान—यों इस शास्त्र में (प्रारम्भ में) उद्दिष्ट सभी विषयों का व्याख्यान परिपूर्ण हुआ। (इस शास्त्र में) मध्यमा प्रतिपत् के प्रकाशन (विस्तृत व्याख्यान) के कारण अर्थात् इसमें भी मध्य (अद्वय धर्मधातु) और समारोपापवाद स्वरूप अन्तद्वय की कल्पना के पदार्थों का विस्तृत विवरण होने से इस शास्त्र (ग्रन्थ) का नाम भी मध्यान्तविभागशास्त्र रख दिया गया। यह शास्त्र आदि और अन्त को छोड़कर मध्य भाग के ही गूढ (तर्क से अगोचर) एवं सारभूत अर्थ (पर वादियों से अभेद्य होने) के कारण बोधिसत्त्वचर्या में स्व-और पर दोनों का ही समान अधिकार होने के कारण महार्थ, इसके अध्ययन में तीनों यानों (के मतावलम्बियों) का समान अधिकार है इसलिये सर्वार्थ, यह क्लेशावरण और ज्ञेयावरण-दोनों आवरणों को हटाता है, अतः यह सभी प्रकार के अनर्थों को दूर हटानेवाला है ॥ ३१ ॥

यानानुत्तर्य का पिण्डार्थ—संक्षेप में आनुत्तर्य तीन प्रकार का होता है–१· प्रतिपत्ति, २· प्रतिपत्त्याधार एवं ३. प्रतिपत्तिफल। वह प्रतिपत्ति परमा, और जिससे महायान की मनस्क्रिया (भावना) की जाती है, और जिस प्रकार षड्विध विक्षेपाभाव के कारण शमथभावना से अविक्षेपपरिणता, एवं विपश्यनाभावना से दश व्यञ्जनादिकों में विपर्यासाभाव के कारण अविपर्यासपरिणता, और जिसके लिये मध्यमा प्रतिपदा से निर्याणहेतु अन्तद्वयवर्जन में प्रतिपत्ति की जाती है और जिन दशों भूमियों में जो विशिष्ट और अविशिष्ट होती है।

अविपर्यास पिण्डार्थ—१· व्यञ्जनाविपर्यास से शमथनिमित्त का प्रतिवेध संयोगस्वभावविगत का साक्षात्कार किया जाता है, अर्थात्

२· अर्थाविपर्यास से विपश्यनानिमित्त का भ्रान्तिमात्रत्वेन प्रतिवेध किया जाता है।

३· मनस्काराविपर्यास से विपर्यास के निदानभूत आलयविज्ञानाहित द्वयाभिनिवेश बीज को परिवर्जित किया जाता है।

४. अविसाराविपर्यास से विपर्यासनिमित्त को मायादिवत् सदसत्त्वाभिनिवेश से उद्गृहीत किया जाता है।

५. स्वलक्षणाविपर्यास से उसके प्रतिपक्ष से अविकल्प (अभिलापरहित) धर्मस्वलक्षणविषयक मार्ग की भावना की जाती है।

६· सामान्यलक्षणाविपर्यास से व्यवदानप्रकृति को सर्वधर्मसामान्यभाव से प्रतिवेध किया जाता है।

७. अशुद्धि·शुद्धिमनस्काराविपर्यास से तदावरणप्रहीणता का साक्षात्कार करता है।

८· तदागन्तुकत्वाविपर्यास से संक्लेश·व्यवदान का यथाभूत प्रज्ञान करता है।

९ १०. अत्रासानुन्नत्यविपर्यास से पुद्गलधर्माभिनिवेश हेतु से निरावरण निर्याण को प्राप्त करता है॥

यानानुत्तर्य परिच्छेद पञ्चम समाप्त॥

इस तरह आर्यवसुबन्धुरचित भाष्य

एवं आचार्यस्थिरमतिकृत आगमानुसारिणी व्याख्या सहित

मध्यान्तविभागशास्त्र का हिन्दीरूपान्तर सम्पन्न॥



व्याख्यामिमामुपनिबध्य यदस्ति पुण्यम्,
पुण्योदयाय महते जगतस्तदस्तु।
ज्ञानोदयाय च यतोऽभ्युदयं महान्तम्,
बोधित्रयं च न चिराज्जगदश्नुवीत॥

—आर्यवसुबन्धुः

प रि शि ष्टों ऽश:

मध्यान्तविभागशास्त्रस्य

श्लोकार्धसूची

मध्यान्तविभागभाष्यस्थितश्लोकार्धसूची

भाष्ये उद्धृतानां

ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च सूची

अस्य शास्त्रस्य भाष्ये वै आर्येण वसुबन्धुना ।
स्मृतानां ग्रन्थ-काराणां सूचीयं क्रमपूर्विका ॥



टीकायामुद्धृतानां

ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च सूची

स्थिरमतेश्च टीकायां ग्रन्था ग्रन्थकृतश्च ये ।
स्मृतास्तेषामियं सूची निर्दिष्टा क्रमशालिनी ॥

शोधनपत्रम्

जरायां सुलभभ्रान्तिप्रमादायामिह क्वचित् ।
लेखनीस्खलनं जातं शोध्यं तद्धि विचक्षणैः ।।

पृ०	पं०	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३.	१७	वह	है ।
३.	१८	है । अर्थों का	अर्थों का
४.	३१	०विकल्प है ।)	०विकल्प) है ।
१६.	२७	पर्यार्यलक्षण	पर्यायलक्षण
२२.	२९ (टि०)	इत्यस्य	इत्यस्य स्थाने
२३.	२	**चैव**	**न चैव**
२६.	२०	हेतुप्रत्यय का	हेतुप्रत्यय की
२७.	६	लोकौत्तरं	लोकोत्तरं
२७.	१७	उपाय को	उपाय को ।
२७.	२१	निदश	निर्देश
३१.	२२	इस दश	इस का दश
३२.	१७	ह्यनित्यार्थौ	ह्यनित्यार्थः
५७.	१४	उद्देश्य से	उद्देश से
६२.	२	लेखना	लेखनं
७६.	१६	नियामानक्रान्ति	नियामावक्रान्ति
७७.	६	संयोग…है । अर्थात्	अर्थात् संयोग…है ।

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ।।

नापनेयमतः किञ्चित् प्रक्षेप्तव्यं न किञ्चन ।
द्रष्टव्यं भूततो भूतं भूतदर्शी विमुच्यते ।।